हिन्दी की प्रगतिवादी कहानी (1960-1980)
HINDI KI PRAGATHIVADI KAHANI (1960-1980)

Thesis submitted to
Cochin University of Science and Technology
for the award of the degree of
DOCTOR OF PHILOSOPHY

By
SUBRAMANIAN V. K.

Prof. and Head of the Dept.
Prof. (Dr.) M. EASWARI

Supervising Teacher
Dr. M. SHANMUGHAN
Reader

DEPARTMENT OF HINDI
COCHIN UNIVERSITY OF SCIENCE AND TECHNOLOGY
KOCHI - 682 022

1995

Certificate

This is to certify that this THESIS *is a bonafide record of work carried out by* SUBRAMANIAN. V.K. *under my supervision for* Ph.D. *and no part of this has hitherto been submitted for a degree in any University.*

Dr. M. SHANMUGAN
READER
(Supervising Teacher)

Department of Hindi.
Cochin University of Science & Technology
Kochi - 682 022
Dated :

ACKNOWLEDGEMENT

This work was carried out in the Department of Hindi, Cochin University of Science and Technology, Kochi - 682 022 during the tenure of Fellowship awarded to me by the Cochin University of Science and Technology. I sincerely express my gratitude to the Cochin University of Science and Technology for this help and encouragement.

Subramanian.

SUBRAMANIAN. V. K.

Department of Hindi
CochinUniversity of Science & Technology
Kochi - 682 022
Dated :

पुरोवाक्

यह सर्व विदित है कि मार्क्सवाद एक वर्गहीन शोषण मुक्त समाज की संभावना करता है । उसकी यह मान्यता भी है वर्ग विभाजित इस पूँजीवादी समाज में वर्ग संघर्ष के बिना वर्गहीन समाज की स्थापना असंभव है । यानी मार्क्सवादी दर्शन वर्ग संघर्ष और उसके द्वारा वर्गहीन सामाजिक व्यवस्था की संकल्पना संजोए रहता है । इस लोक हितकारी दर्शन ने साहित्य को भी जबरदस्त प्रभावित और परिवर्तित किया ।

हिन्दी में मार्क्सवाद से प्रेरित साहित्य आन्दोलन का नाम - प्रगतिवाद है । सन् 1936 में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई । तब से साहित्य के क्षेत्र में मार्क्सवादी दर्शन का गहरा निवेश हुआ । हिन्दी कहानी साहित्य में प्रगतिशील साहित्य का उपक्रम प्रेमचन्द के अंतिम दौर की कहानी से हुआ है । "कफ़न" और "पूस की रात" इस नयी मानसिकता से जुडी कहानियाँ हैं । इन कहानियों ने प्रगतिवादी कहानी को दिशा-दृष्टि दी । इसके बाद अनेक कहानीकार प्रगतिवाद की ओर आकृष्ट हुए ।

प्रेमचन्द के बाद प्रगतिवाद की परंपरा को आगे बढानेवाला साहित्यकार यशपाल है । उन्होंने भी अपनी कहानियों में पीडितों एवं शोषितों को सही स्थान दिया । यशपाल के बाद इस परंपरा

की गति थोडी-सी मंद पडी । इसका कारण यह है कि उस समय के साहित्य की उन्मुखता वैयक्तिक चेतना की ओर अधिक थी । लेकिन साठोत्तरी कहानी साहित्य में प्रगतिवाद का पुन: जागरण हुआ और कहानी साहित्य ने वर्ग संघर्ष को दिशा दृष्टि देने में एक सक्षम माध्यम के रूप में तब्दील हो गया ।

साठोत्तरी कहानी साहित्य की प्रगतिचेतना पर अध्ययन तो अवश्य हुआ है, लेकिन बहुत कम । जैसे, "किरणबाला" की रचना - "समकालीन हिन्दी कहानी और प्रगतिचेतना", "डा. जितेन्द्र वत्स" की रचना - "साठोत्तरी हिन्दी कहानी में राजनीतिक चेतना", "डा. वासुदेव शर्मा की रचना -"साठोत्तरी हिन्दी कहानी : मूल्यांकन की तलाश," "डा. पुष्पपाल सिंह" द्वारा रचित - "समकालीन हिन्दी कहानी : सोच और समझ" आदि । इसलिए मैं ने अपने शोध का विषय प्रगतिवादी कहानी साहित्य चुन लिया ।

इस शोध प्रबन्ध में सन् 1960 ई. के बाद सन् 1980 ई. तक की कहानी में आए परिवर्तन को प्रगतिवादी दृष्टि से देखने परखने का प्रयास किया गया है । यद्यपि इस काल खंड में कहानी साहित्य विभिन्न आन्दोलनों में बंट कर आगे बढ रहा था । फिर भी कहानी अधिकाधिक प्रगतिवाद की ओर उन्मुख रही । यह उन्मुखता कहानी के भावपक्ष

और शिल्पपक्ष पर दिखाई पड़ती है । कहानी अपनी अलग पहचान में एक स्वतंत्र अस्मिता को स्वीकार करने लगी । कहानी की यह स्वतंत्र चेतना देश के सामान्य जनता की सामाजिक समस्याओं को गहराई में समझने में सहायक हुई । आम आदमी पर जो गुलामी और शोषण के पंजे फैल रहे थे उनके मूल की खोज प्रगतिवादी नज़रिये से करना कहानी ने अपना दायित्व स्वीकार किया है । कहानी ने अपने कथ्य को सर्वहारा के जीवन से स्वीकार लिया और उसको यथार्थ के धरातल पर प्रस्तुत भी किया । इस दौर की प्रगतिवादी कहानियों का रुख समाजवादी व्यवस्था की स्थापना की ओर है । अतः कहानी वामपंथी विचार से पुष्ट दिखाई देती है । इसने सर्वहारा की विजय के लिए सशस्त्र क्रांति का आह्वान भी दिया । वास्तव में उसका लक्ष्य तो नींवाधार सामाजिक परिवर्तन ही है । इस के लिए इस दौर के कहानीकारों ने कहानी को कारगर औजार के रूप में इस्तेमाल भी किया ।

इस शोध प्रबंध को पाँच अध्यायों में विभाजित किया है । पहला अध्याय - प्रगतिवादी रुझान की आधारभूत विचारधाराएँ और साहित्य-संबंधी संकल्पनाएँ । दूसरा अध्याय - आधुनिक हिन्दी कहानी की पृष्ठभूमि । तीसरा अध्याय - आधुनिक युग के विभिन्न कहानी आन्दोलनों के तहत अभिव्यक्त प्रगति चेतना । चौथा अध्याय - प्रगतिवादी कहानी का प्रवृत्तिगत अध्ययन । पाँचवाँ अध्याय - प्रगतिवादी कहानी का शिल्प पक्ष ।

पहले अध्याय में प्रगतिवादी साहित्य के आधारभूत विचारधारा के रूप में मार्क्सवाद के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को स्वीकार किया है । मार्क्सवादी साहित्य संबंधी संकल्पनाओं का अध्ययन भी किया है । इसके साथ माओ, लुकाच, अन्टोनियो ग्रांश, प्लेखानोव, क्रिस्टफर काडवेल आदि विदेशी विचारकों और भारतीय विचारक यशपाल, मुक्तिबोध, रांगेय राघव जैसे भारतीय साहित्यकारों के साहित्य संबंधी विचारों पर भी संक्षिप्त अध्ययन किया गया है ।

दूसरे अध्याय में स्वतंत्रतापूर्व और स्वातंत्र्योत्तर भारत के परिवेश का अध्ययन करते हुए इस ज़माने मे घटित विभिन्न आन्दोलनों के प्रभाव को रेखांकित किया गया है । इनमें प्रमुख रूप से सन् 1917 ई. में हुई रूसी क्रांति, भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, किसान-मज़दूर आन्दोलन, सविनय अवज्ञा आन्दोलन, आदि आते हैं । द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद का संकट बंगाल का अकाल, विभाजन की विभीषिकायें आदि का देश के आर्थिक सामाजिक और नैतिक क्षेत्र पर जो प्रभाव पडा, उसका भी आकलन हुआ है । इसके साथ प्रगतिवादी कहानी के उद्‌भव और विकास पर भी प्रकाश डाला गया है । साहित्य की यथार्थोन्मुखता का अध्ययन सामाजिक समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में किया गया है । इसके साथ प्रेमचन्द और यशपाल का सर्वकालीन विशेषताओं और प्रभावों पर नज़र डाला गया हैं ।

तीसरे अध्याय में प्रगतिवादी नज़रिये से नयी कहानी की सीमाओं और उपलब्धियों पर विचार किया है । सचेतन, समांतर और जनवादी कहानी आन्दोलनों में अभिव्यक्त जन चेतना का आकलन हुआ है । इन कहानी आन्दोलनों का समाज के प्रति प्रतिबद्धता और कहानी को समाजवादी व्यवस्था लाने में कारगर हथियार के रूप में इस्तेमाल करने की उनकी कोशिशों का अध्ययन भी हुआ है ।

चौथा अध्याय प्रगतिवादी व वामपंथी विचारधारा के तहत आनेवाली कहानियों का अध्ययन है । इसमें प्रगतिवादी कहानी की अलग पहचान प्रगतिवादी नज़रिये से देखा गया है ।

पाँचवाँ अध्याय प्रगतिवादी कहानी की शिल्पगत विशेषताओं पर आधारित है । इसकी खूबियों को प्रगतिवादी नज़रिये से विश्लेषित करने का विनम्र प्रयास किया है । पूर्ववर्ती कहानी की तुलना में अभिव्यक्ति पक्ष की स्वतंत्रता व अनुपमता को भी रेखांकित किया है । साथ ही साथ शैलीगत नये-नये प्रयोगों पर भी विशेष दृष्टि डाली गयी है ।

यह शोध प्रबन्ध कोचिन विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के रीडर डा. एम. षण्मुखन के दिशा-निर्देश के आधार पर तैयार किया गया है । उनके बहुमूल्य निर्देश एवं सुझाव मेरे इस प्रयत्न में बेहद सहायक रहे हैं । उनके प्रति तहे दिल से मैं कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ ।

हिन्दी विभाग की अध्यक्षा डा. एम. ईश्वरी के प्रति भी मैं कृतज्ञ हूँ । वे मेरे इस प्रयत्न में निरंतर प्रेरणा एवं प्रोत्साहन देती रही हैं ।

हिन्दी विभाग के अन्य गुरुजनों, पुस्तकालय कर्मचारियों तथा मेरे अपने सहयोगियों के प्रति भी मैं हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ जिन्होंने खुले आम तहे दिल से मेरी मदद की है ।

हिन्दी विभाग
कोचिन विज्ञान व प्रौद्योगिकी
विश्वविद्यालय
कोचिन - 22.

2 . 12. 1995.

वी. के. सुब्रमणियन

विषय-सूची

पृष्ठ संख्या

पहला अध्याय 1 - 48

मार्क्सवादी साहित्यकारों की साहित्य-संकल्पना

मार्क्सवादी और एंगेल्स के साहित्य संबंधी विचार - लेनिन का चिंतन - माओ - जे.वी. प्लेखानोव - मार्क्सिम गोर्की - क्रिस्टोफर काडवेल - बरतोल्ड ब्रेख्त - अन्टोनियो ग्रांशी - जार्ज लुकाच - राल्फ फाक्स - हावर्ड फास्ट - भारतीय विचारक - शिवदान सिंह चौहान - राम विलास शर्मा - अमृतराय - प्रकाशचन्द्र गुप्त - डॉ. नामवर सिंह - डॉ. रांगेय राघव ।

दूसरा अध्याय 49 - 71

आधुनिक हिन्दी कहानी की पृष्ठभूमि

स्वातंत्र्य पूर्व भारत का परिवेश - स्वातंत्र्योत्तर भारत का परिवेश - प्रगतिवादी कहानी का उद्भव और विकास - यथार्थ की ओर झुकाव - प्रेमचन्द और यशपाल की सर्वकालीन विशेषताएँ - परंपरागत कहानी शैली में परिवर्तन ।

पृष्ठ संख्या

तीसरा अध्याय 72 - 95

आधुनिक युग के विभिन्न कहानी आन्दोलनों के तहत अभिव्यक्त प्रगतिवादी चेतना

नयी कहानी की सीमाएँ - व्यक्ति केन्द्रित कहानी - अकहानी - सचेतन कहानी - समांतर कहानी - जनवादी कहानी में वामपंथी विचार - सक्रिय कहानी ।

चौथा अध्याय 96 - 170

प्रगतिवादी कहानी का प्रवृत्तिगत अध्ययन

समाज की दुर्दशा का पर्दाफाश - शोषण का विरोध - शोषण की समस्या - सत्ता का अत्याचार - सत्ता के विरुद्ध जन चेतना - आर्थिक विपन्नता - समाज की समस्या - वर्ग विभाजन और मज़दूर आन्दोलन - क्रांति का समर्थन ।

पाँचवाँ अध्याय 171 - 196

प्रगतिवादी कहानी का अभिव्यक्ति पक्ष

भाषा - शब्द - शिल्पगत अन्य विशेषताएँ - अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता ।

उपसंहार 197 - 208

संदर्भ ग्रंथ सूची 209 - 220

पहला अध्याय

मार्क्सवादी साहित्यकारों की साहित्य-संकल्पना

शताब्दियों से अपने मौलिक अधिकारों से वंचित, पीड़ित व शोषित बहुसंख्यक जनता को अपने मौलिक अधिकारों से अवगत कराने, शोषितों को अपनी सही पहचान देने और शोषण से मुक्त स्वस्थ जीवन बिताने के लिए वर्ग रहित समाजवादी समाज व्यवस्था की रचना को लक्ष्य करके मार्क्स ने जो लोकहितकारी सिद्धांत का निर्माण किया वह मार्क्सवाद नाम से जाना जाता है । इस सिद्धांत के केन्द्र में संपूर्ण मानव जाति की भलाई की भावना केन्द्रीभूत है । इस सिद्धांत ने इस शताब्दी के आरंभ में ही वर्ग विभाजित समाज को परिवर्तित करने और शोषितों की मुक्ति के लिए शोषकों के विरुद्ध श्रमिक व मज़दूर वर्ग को एकजुट होने का आह्वान किया था । मार्क्स के विचार में वर्गों में बँटे समाज की समस्याओं का मूल कारण पूँजीवादी व्यवस्था की विडंबनाएँ हैं । उन्होंने इस पूँजीवादी व्यवस्था के उन्मूलन के लिए वर्ग संघर्ष की आवश्यकता पर ज़ोर दिया । उनके अनुसार वर्ग संघर्ष के द्वारा वर्गबोध की समाप्ति हो सकती है ।

मार्क्स ने वर्ग संघर्ष को प्रेरित करने में साहित्य की भूमिका पर भी विचार किया था ।

मार्क्स और एंगेल्स के साहित्य संबन्धी विचार

मार्क्स और एंगेल्स ने साहित्य एवं कला पर अलग से विचार नहीं किया है । लेकिन समाज, जीवन और संस्कृति संबंधी बुनियादी बातों पर विचार करते समय साहित्य संबंधी विचारों को भी अभिव्यक्त किया है । ये विचार उनके साहित्य संबंधी बारीकी दृष्टि को स्पष्ट

करते हैं । मार्क्स की दृष्टि में साहित्य एवं कला का मनुष्य के बाहरी परिवेश से, खासकर उनके सामाजिक, आर्थिक व सांस्कृतिक जीवन परिवेश के साथ सख्त सरोकार रखता है । सामाजिक जीवन परिवेश के मुताबिक साहित्य का निर्माण होता है और परिवर्तन भी इसी की वजह होता है । मार्क्स के अनुसार -"सामाजिक जीवन की उत्पादन प्रक्रिया में मनुष्य ऐसे सुनिश्चित सम्बन्धों की स्थापना करते हैं, जो अपरिहार्य है । इन संबंधों का योग अथवा संपूर्णता ही समाज के आर्थिक धरातल का निर्माण करती है - उसका वह सही आधार बनाती है, जिसपर एक नायिक तथा राजनीतिक बाह्य संरचना खड़ी होती है, और सामंजस्य स्थापित करते हैं ।"[1]

मार्क्स ने साहित्य एवं कला को समाज के भौतिक धरातल से ही उद्भूत माना है । साहित्य एवं कला का समाज पर जो गहरा प्रभाव है उसको उन्होंने स्वीकार किया है । सामाजिक जीवन के परिवर्तन एवं विकास में तथा विचारधारा के रूपायन में भी अपनी भूमिका है । अर्थात् सही साहित्य एवं कला विचारधारा का ही एक रूप है । वे आर्थिक-भौतिक जीवन से उत्पन्न एवं उसी पर स्थित तथा आधारित है । आर्थिक-भौतिक धरातल पर परिवर्तन होने के साथ ही साहित्य, कला अथवा विचारधारा के अन्य रूपों में भी तेज़ी से परिवर्तन हो जाता है ।"[2]

---

1. Literature and Art, K.Marx and F.Engels, Current Book House, Bombay-1, 1956, P.1.
2. डा. शिवकुमार मिश्र, मार्क्सवादी साहित्य चिंतन, इतिहास तथा सिद्धांत, 1973, पृ. 195.

एंगेल्स ने भी मार्क्स के उपर्युक्त विचार को भी मान्यता दी है । उनका कहना है कि - "साहित्य एवं कलात्मक विकास निश्चित रूप से आर्थिक विकास पर आधारित है ।"[1] कहने का तात्पर्य यह कि आर्थिक धरातल अथवा आर्थिक-भौतिक जीवन साहित्य एवं कला को प्रभावित करता है और उससे नियंत्रित होता है । साहित्य और भौतिक जीवन के संबंध को स्पष्ट करते हुए मार्क्स और एंगेल्स ने स्थापित किया कि दोनों के साथ अर्थ का अडिग संबंध है । इसके साथ मार्क्स ने साहित्य के लक्ष्य पर भी विचार किया है । साहित्य का लक्ष्य केवल मन बहलाव तक सीमित नहीं । साहित्य का सामाजिक जीवन के विकास और परिवर्तन में योगदान अपरिमेय है । साहित्य मनुष्य को अधिकाधिक मानवीय बनाता है । इस पर मार्क्स का सख्त निर्देश यह है, साहित्य का धर्म यह है कि वह मनुष्य के इन्द्रिय-बोध को मानवीय बनाएँ । साथ ही साथ मानवीय बोध की - रचना भी करें जो मानवीय और प्राकृतिक जीवन के अनुकूल हो ।[2] पूँजीवादी समाज व्यवस्था में वर्ग विभाजन के कारण मानवीयता नष्ट होती है । इस व्यवस्था में पैसे की प्रभुता समस्त मानवीय सम्बन्धों को तोड़कर रख देती है । समाजवादी मानवतावाद की व्याख्या करते हुए मार्क्स ने कहा - "निजी सम्पत्ति को समाप्त कर देने का अर्थ है सभी मानवीय बोधों और रुझानों की पूर्ण मुक्ति, उन बोधों और रुझानों का वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ दोनों रूपों में मानवीय बन जाना ।"[3]

---

1. K.Marx and F.Engels, Literature and Art, 1956, P.2.
2. K.Marx and Engels, Letter to Heinr Starkenburg, P.15.
3. The abolition of private property means there fore the complete emancipation of all human senses and aptitudes but it means that imancipation for the very reason that these senses and aptitudes have become human, both subjectively and objectively, Literature and Art, P.54.

एंगेल्स ने साहित्य एवं कला में यथार्थ चित्रण की समस्याओं पर विशेष रूप से चर्चा की है, और इस संबंध में उनकी मान्यताएँ महत्वपूर्ण है । वे कला के अंतर्गत व्यक्तियों तथा घटनाओं के सत्य चित्रण पर सर्वाधिक बल देते हैं । यथार्थवाद का सही अर्थ सत्य ब्यौरों के अलावा प्रतिनिधि परिस्थितियों में प्रतिनिधि पात्रों का सत्य चित्रण है ।[1] सच्चा यथार्थवाद कृति के भीतर लेखक के अपने विचारों का सन्निवेश करना नहीं, बल्कि लेखकों को कृति के भीतर से यथार्थ की अभिव्यक्ति करना है ।[2] इस प्रकार मार्क्स और एंगेल्स के कला संबंधी विचार उनकी साहित्य तथा कला मर्मज्ञता का स्पष्ट प्रमाण है । उन्होंने अन्य बुनियादी समस्याओं के साथ साहित्य एवं कला के अंतरंग को भी निकट से देखा और पहचान लिया ।

लेनिन का चिंतन

रूस के लेनिन ने मार्क्सवाद को रूस के विशेष संदर्भ में व्यावहारिक बनाया और संसार के मज़दूरों को एकजुट होने का पुन: आह्वान किया । लेनिन का मकसद समाजवादी समाज का निर्माण ही था । इसलिए इस लक्ष्य के परिप्रेक्ष्य में ही साहित्य एवं कला संबंधी विचारों का मूल्यांकन किया उनका कहना है कि कला जनता की थाती है । उसकी जड़ें मेहनतकश जनता के बीच गहरी होनी चाहिए । इसी जनता द्वारा उसे

---

1. 'Realism to my mind, implies, besides truth of detail, the truthful reproduction of typical characters under typical circumstances', Karl Marx and Federic Engels, Literature and Art, P.36.
2. The more the author's views are concealed, the better for the work of art. The realism, I allude to may creep out even inspire of the author's views, P.37.

समझा और प्यार किया जाना चाहिए । उसे जनता की भावनाओं, विचारों और इच्छाओं को एकजुट करना और उदात्त बनाना चाहिए । उसे उसकी कर्मशीलता को जगाना चाहिए और उसके अन्दर कलात्मक प्रवृत्ति पैदा करनी चाहिए । ...... अपनी आँखों के सामने हमें हमेशा मज़दूरों और किसानों की आकृति रखनी चाहिए । जनता में कला और संस्कृति के प्रति अभिरुचि उत्पन्न हो, वह पुरातन जड संस्कारों से मुक्त हो, इसके लिए वे उसे निरक्षरता के अभिशाप से मुक्त करना आवश्यक मानते थे । [1] वे साहित्य एवं कला को जनता के जीवन से जुड़े रहने और उनकी आशाओं, आकांक्षाओं को अभिव्यक्त करने के पक्ष में थे । इसके लिए वे कलाकार के स्वतंत्र होने का हिमायती भी रहे ।

कलाकार की स्वतंत्रता

लेनिन का कहना है कि "हर कलाकार को तथा हर उस व्यक्ति को, जो अपने को कलाकार समझता है, यह अधिकार है कि वह बिना किसी की परवाह किए स्वतंत्रतापूर्वक सृजन करें और अपने आदर्शों का पालन करें ।" [2] उन्होंने इसी दृष्टि से सर्वहारा साहित्य का विश्लेषण किया । उनके मतानुसार साहित्य पूँजीवादी विकृतियों से दूर रहे और उसमें जनता के हित प्रतिबिम्बित रहे, तभी सच्चे अर्थ में साहित्य स्वतंत्र रहेगा । इसके लिए परंपरा के जीवंत तत्वों को आत्मसात करते हुए ही कलाकार को अपनी

---

1. Lenin on literature and Art, Progress publishers, Mosco, 1967, P.250-251.
2. लेनिन के संस्मरण, क्लारा जेटकिन, पृ. 20.

अभिव्यक्ति करनी है । वे साहित्य एवं कला को महान समाजवादी क्रांति के आदर्शों के अनुरूप अपना विकास करने के आकांक्षी थे । वे साहित्य एवं कला के जनवादी रूप के समर्थक थे । वे उन कला आन्दोलनों और प्रवृत्तियों के विरोधी थे जो आधुनिकता के नाम पर रचनाकारों एवं कलाकारों को अपनी ओर आकर्षित कर क्रांति के उद्देश्यों पर स्याही जोतने का प्रयास कर रही थी । उन्होंने एक्सप्रेशनिज़्म { Expressionism } फ्यूचरिज़्म { Futurism } क्यूबिज़्म { Cubism } आदि को जनता के समझ से परे माना ।[1] लेनिन का यही विचार रहा कि साहित्य एवं कला जनता की संपत्ति है । अतएवं उनका जनजीवन से संबद्ध रखना परम आवश्यक है । जनता के स्वप्नों एवं आदर्शों की अभिव्यक्ति ही उसका मकसद होना चाहिए । लेनिन ने साहित्य एवं कला के अन्तर्गत यथार्थ जीवन-चित्रण एवं जन-सामान्य के हितों को सर्वोपरि महत्व दिया । यथार्थ चित्रण के ज़रिये ही जनता तक हम क्रांतिकारी विचारधाराओं को भी पहुँचा सकते हैं । इसके लिए साहित्यकार का यह कर्ज बनता है कि वे सर्वहारा वर्ग के क्रांतिकारी दृष्टिकोण को सचेत से अंकित करें । यथार्थ के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत होने से साहित्य समाज को बदलने के संघर्ष में जनसामान्य के हाथों में एक हथियार के रूप में कारगर काम करेगा और सर्वहारा वर्ग के एक आवश्यक तत्व के रूप में रहेगा ।

इस प्रकार लेनिन ने साहित्य एवं कला संबंधी अपने विचार मार्क्स के विचार के अनुकूल ही प्रकट किये हैं । साहित्य को

---

1. लेनिन के संस्मरण, क्लारा जेटकिन, पृ. 21.

समाजवादी समाज की स्थापना के लिए कारगर हथियार मानते हुए लेनिन के साहित्य को हृदय के धरातल के बाहर लाकर यथार्थ जीवन के साथ जोड दिया है । उन्होंने यथार्थ को प्रमुखता देकर साहित्य को जनहितकारी घोषित किया ।

माओ का साहित्य चिंतन

माओ एक सक्रिय राजनैतिक एवं विचारक होने के साथ साथ एक सफल साहित्यक व कलामर्मज्ञ भी थे । उन्होंने भी साहित्य व कला के संबंध में अलग चिंतन तो नहीं किया बल्कि उनके साहित्य संबंधी दृष्टिकोण सन् 1943 ई. में येनान प्रांत में जो साहित्य परिचर्चा हुई उसमें व्यक्त किया गया ।[1] उनके बहुमूल्य विचारों को आगे हम विश्लेषण करके देखेंगे ।

साहित्य एक तेज़ हथियार

माओ साहित्य को केवल मनोरंजन की वस्तु नहीं मानते थे । साहित्य को जीवन के परिप्रेक्ष्य में ही उन्होंने मान्यता दी । उन्होंने साहित्य को क्रांति की व्यापक मशीन के अन्तर्गत उसके एक अभिन्न अंग के रूप में स्थान दिया । साहित्य जनता को शिक्षित और एकत्रित करने का एक शक्तिशाली माध्यम है । साहित्य को एक कारगर हथियार के रूप में

---

1. माओ त्सेतुङ , येनान की कला-साहित्य गोष्ठी में भाषण एवं हमारे पार्टी इतिहास के कुछ अनुभव, पृ. 13.

इस्तेमाल करना चाहिए । साहित्य व कला समूची क्रांतिकारी मशीनरी के एक अभिन्न अंग के रूप में अच्छी तरह फिट हो जाए, वे जनता को एकताबद्ध और शिक्षित करने तथा दुश्मन पर प्रहार करने और उसे नष्ट कर देनेवाले शक्तिशाली हथियार बन जाएं, तथा वे जनता को इस योग्य बना दें कि वह एक दिल व एकजान होकर दुश्मन का मुकाबला कर सके ।[1] इसके लिए साहित्यकारों को चाहिए कि वे सर्वहारा के हित में एक अलग दृष्टिकोण को अपनाये और उसे साहित्य द्वारा प्रस्तुत करें । इसके लिए साहित्य की वस्तु, शिल्प आदि को सामान्य जीवन से लें और जनता की प्रतिक्रिया को तेज़ करने के लिए सहायता दें । इस प्रकार साहित्य को पूर्णतः सर्वहारा के हित में समर्पित करें ।

साहित्यकार का दायित्व

मार्क्सों की यह मान्यता है कि साहित्य में मार्क्सवादी विचारों का अवश्य सन्निवेश हो । उन्होंने कहा कि इसके लिए साहित्यकार को मार्क्सवादी लेनिनवादी दृष्टिकोण को साहित्य के द्वारा भली-भाँति व्यावहारिक बना सकते हैं । उन्होंने कहा कि साहित्य में आनेवाले तथ्यों को यथार्थ के द्वारा मूर्त करना चाहिए । लेखक सर्वहारा के हित दृष्टिकोण को विकसित कर सकते हैं । उन्होंने साहित्यकारों और कलाकारों से सर्वहारा वर्ग के स्वभाव को पहचानने का निर्देश दिया और उनका सुख हमेशा सर्वहारा के साथ समर्पित होने की बात भी की । जनता की सेवा कलाकार का लक्ष्य होना चाहिए । कलाकार या साहित्यकार सर्वहारा

---

1. माओ त्सेतुङ , येनान की कला-साहित्य गोष्ठी में भाषण एवं हमारे पार्टी इतिहास के कुछ अनुभव, पृ. 15.

वर्ग को पहचाने, उसके संघर्ष का अध्ययन करके सर्वहारा की शक्तियों का समर्थन दें और विरोधी शक्तियों को कमज़ोर भी बनाएँ । लेखकों के दायित्व पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने कहा कि हमारे लेखकों व कलाकारों को अपना साहित्य व कलात्मक सृजन-कार्य करना होगा, लेकिन उनका सर्वप्रथम कार्य है जनता को समझना और उसका अच्छी तरह परिचय प्राप्त कर लेना ।[1] साथ ही साथ उन्होंने कहा कि लेखकों व कलाकारों को चाहिए कि समाज का अध्ययन करे, अर्थात् वे समाज के विभिन्न वर्गों का अध्ययन करें, उनके आपसी संबंधों और उनकी अपनी-अपनी स्थितियों का, तथा उनकी बाह्य आकृति और मनोवृत्ति का अध्ययन करें । जब इन सब बातों को स्पष्ट कर दिया जायेगा, सिर्फ तभी हमारे कला-साहित्य की विषय-वस्तु बड़ी समृद्ध हो सकेगी और उसकी दिशा सही हो सकेगी ।[2]

साहित्य का लक्ष्य

साहित्य के लक्ष्य पर विचार करते हुए माओ का कहना है कि साहित्य का केन्द्रीय लक्ष्य आखिरकार जनता है और जनता के हित हैं । साहित्य को जनता के हित के लिए समर्पित होना चाहिए । साहित्य के इस लक्ष्य के साक्षात्कार के लिए साहित्यकार को मार्क्सवादी आदर्शों से अनुप्राणित होना है और उसे व्यावहारिक जीवन में लागू भी करना है । मार्क्सवाद हमें यह सिखाता है कि किसी भी समस्या से निपटते समय हमें

---

1. माओ त्सेतुङ , येनान की कला-साहित्य गोष्ठी में भाषण एवं हमारे पार्टी इतिहास के कुछ अनुभव, पृ. 19.
2. वही, पृ. 24.

वस्तुगत तथ्यों से शुरुआत करनी चाहिए अमूर्त परिभाषाओं से नहीं, तथा इन तथ्यों का विश्लेषण करके ही हमें अपने निर्देशक उसूलों, नीतियों और उपायों को निर्धारित करना चाहिए ।[1] जनता की ज़रूरी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए साहित्य को जनता तक पहुँचाना है... जो जनता के संघर्ष में और क्रांति में उनका मददगार बनें । याने साहित्य और कला को लाखों-करोड़ों मेहनतकश जनता की ...... सेवा करनी चाहिए ।

साहित्य का स्रोत

मा‌ओ ने अतीत को साहित्य का स्रोत नहीं माना । उनके विचार में जनजीवन ही साहित्य का आधार है । प्राचीन युग के साहित्य को उन्होंने एक प्रवाह के रूप में माना था । उन्होंने प्राचीन युग के साहित्य के प्रवाह को आँख मूँदकर विरोध नहीं किया जैसे कुछ कट्टर मार्क्सवादी साहित्यकारों ने किया है । उन्होंने उसकी स्वीकृति पर सतर्क रहने का आह्वान किया । प्राचीन साहित्य को विवेक के धरातल पर रखकर उससे आवश्यक अंश को स्वीकार करना हैं जो हमारे लिए उपयोगी है । उनका कहना है कि हमें कला-साहित्य की समृद्ध विरासत को, कला-साहित्य की श्रेष्ठ परंपराओं को स्वीकार कर लेना चाहिए, लेकिन हमारा उद्देश्य फिर भी आम जनता की सेवा होना चाहिए । और न हम अतीत काल के साहित्यक व कलात्मक रूपों का इस्तेमाल करने से ही इनकार करते हैं । लेकिन हमारे हाथ में आने के बाद ये पुराने रूप भी, जिनका पुनः संस्कार करके हम उनमें एक नई विषय-वस्तु भर देते हैं, जनता की सेवा करनेवाली एक क्रांतिकारी वस्तु बन जाते हैं ।[2]

1. माओ त्सेतुङ, येनान की कला-साहित्य गोष्ठी में भाषण एवं हमारे पार्टी इतिहास के कुछ अनुभव, पृ, 25.
2. वही, पृ. 29.

साहित्य और राजनीति

माओ ने भी लेनिन के समान साहित्य एवं राजनीति के परस्पर संबंध को स्वीकार किया है । यद्यपि साहित्य एवं कला राजनीति पर व्यापक प्रभाव डालती है फिर भी उन्होंने साहित्य और कला को राजनीति से नीचा दर्जा दिया है । उन्होंने कलाकारों से आग्रह किया है कि साहित्य के प्रति उनका दृष्टिकोण सर्वहारा वर्ग के हित के अनुकूल हो । क्योंकि माओ का कथन है कि हमारा कला-साहित्य मजदूरों के लिए है जो क्रांति का नेतृत्व करता है ।[1]

इस प्रकार माओ ने साहित्य को राजनीति से अलग नहीं किया बल्कि राजनीति को मजबूत करने का ज़रिया माना । उन्होंने साहित्यकारों और कलाकारों से सर्वहारा वर्ग को पहचानने को कहा और वर्गों में विभक्त समाज में सर्वहारा के प्रति समर्पित होने का आह्वान भी दिया । इससे पता चलता है कि उनके साहित्य-चिंतन का प्रमुख तथ्य सर्वहारा को सचेतन कर उनके संघर्ष को गति देना है । अर्थात् साहित्य का लक्ष्य शोषक वर्ग की मुक्ति है ।

जी. वी. प्लेखानोव

प्लेखानोव रूस के प्रसिद्ध साहित्य समीक्षक थे । उन्होंने

---

1. माओ त्सेतुङ, येनान की कला-साहित्य गोष्ठी में भाषण एवं हमारे पार्टी इतिहास के कुछ अनुभव, पृ. 29.

साहित्य और कला को मार्क्सवादी संदर्भ में विश्लेषित करने का सफल प्रयास किया था । प्रत्येक सामाजिक वस्तु की भाँति वे कला को भी ऐतिहासिक भौतिकवाद के दृष्टिकोण से ही देखना पसंद करते थे । उनके मत से कला एक सामाजिक वस्तु है । "कला उस बिन्दु से प्रारंभ होती है जबकि मनुष्य अपने परिवेश के प्रभाववश अपने द्वारा अनुभूत भावों और विचारों को नये सिरे से अपने मन में जगाता है और उन्हें बिम्ब रूप में एक प्रकार की अभिव्यक्ति देता है । कहने की आवश्यकता नहीं कि अधिकांशतः मनुष्य ऐसा इसलिए करता है ताकि वह अपने द्वारा पुनर्नुभूत भावों तथा विचारों को दूसरे मनुष्यों तक पहुँचा सके । कला, इस प्रकार, एक सामाजिक वस्तु है ।"[1] उन्होंने आदिम जातियों का उदाहरण देते हुए सिद्ध किया है कि पहले लोग पशुओं की खालें, दाँतों और पंजों आदि को आभूषणों के रूप में इसलिए पहनते थे ताकि उनसे उनकी अपनी सक्रियता, शक्ति तथा साहस सूचित हो, किन्तु बाद में वही वस्तुएँ उनकी सौंदर्य संवेदनाओं को भी उभारने लगीं और सौंदर्य सूचक आभूषण बन गई, इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि सभ्य जातियाँ

---

1. I consider, however, that Art begins out the point where man, evokes within himself a new feelings and thoughts experienced by him under the influence of his environment and gives a certain expression to them in images. It goes without saying, that in the vast majority of instances he does this in order to convey to other people the thoughts and feelings he has recalled. Art is a social phenomenon', Art and Social life, G.V.Plekhnov, 1953, P.20.

के ही नहीं, असभ्य जातियों के भी सौंदर्य-संबंधी विचार जटिल विचार से संबद्ध हैं, यही नहीं, उनसे उत्पन्न हैं ।[1] उनका विचार था कि सामान्यत: मनुष्य सर्वप्रथम वस्तुओं तथा तत्वों को उपयोगितावादी दृष्टि से देखता है तथा इसके बाद ही उनके संबंध में एक सौंदर्यात्मक दृष्टिकोण निर्मित करता है । प्लेखानोव का यह विचार ऐतिहासिक भौतिकवादी धारणा के अनुकूल है । वे कला को ऐतिहासिक भौतिकवाद के दृष्टिकोण से ही देखना पसंद करते हैं ।[2] इसके द्वारा अन्तत: इस तथ्य ही सिद्ध होती है कि आर्थिक आवश्यकताएँ (अर्थशास्त्र) कला पर निर्भर नहीं करती, वरन् कला ही आर्थिक आवश्यकताओं पर निर्भर करती है ।[3] कला और उपयोगिता पर भी उन्होंने विचार किया और बताया है कि समाज कलाकार के लिए नहीं बना है, वरन् कलाकार समाज के लिए बना है । कला का दायित्व है कि वह सामाजिक व्यवस्था के सुधार तथा मानवीय चेतना के विकास में अनिवार्यता सक्रिय हो । रहस्यवाद को प्लेखानोव ने विवेक का शत्रु बताया था । उन्होंने व्यक्तिवाद का सख्त विरोध किया है -"परिवेश से कटे हुए लेखक के लिए उसके अपने अहं को सत्ता ही एकमात्र यथार्थ सत्ता रह जाती है, और वह अपने अहं में ही जीने लगता है ।[4] कला और सामाजिक जीवन के संबंध में प्लेखानोव की यही राय है -"जिस कलाकार का तादात्म्य अपने युग की मुक्तिदायी विचारधाराओं के साथ जितना अधिक होगा, उसमें उतनी ही

---

1. Art and Social Life, P.27.
2. I view art as I do all social phenomenon from the stand point of the materialist conception of History, P.21.
3. Same as above, P.82.
4. Same as above, P.228.

शक्ति तथा क्षमता आएगी । परन्तु इसके लिए आवश्यक है कि ये मुक्तिदायी विचार उसके रक्त के कण-कण में घुल जाएँ जिससे कि वह एक कलाकार के नाते वस्तुतः उन्हें अभिव्यक्ति दे सके ।

उनके कला चिंतन की महत्वपूर्ण उपलब्धि यह है कि आदिम जातियों की कला की ऐतिहासिक भौतिकवादी व्याख्या तथा कला और सामाजिक जीवन के बीच के घनिष्ठ संबंधों का प्रतिपादन है । प्लेखानोव ने दृढ़तापूर्वक कला और साहित्य की आर्थिक जीवन पर निर्भरता घोषित की ।[1]

मार्क्सिम गोर्की

गोर्की ने अपने साहित्य चिंतन में यथार्थवादी दृष्टि को प्रमुखता दी थी । उनके मत में यथार्थवाद लोगों तथा उनकी जीवन-स्थितियों का यथातथ्य प्रस्तुतीकरण है ।[2] उन्होंने समाजवादी यथार्थवाद को मान्यता दी और आलोचनात्मक यथार्थवाद की उपेक्षा की । उनका कहना है कि आलोचनात्मक यथार्थवाद में व्यक्तिगत रचनात्मकता का प्रभाव पड़ता है, जिससे उसमें सामाजिक तथा ऐतिहासिक विकास प्रक्रिया का सही आकलन संभव नहीं होता है । इसके विपरीत समाजवादी यथार्थवाद जीवन को एक प्रवाहमान सक्रियता एवं सर्जना के रूप में स्वीकार करता है । जीवन की

---

1. डा. शिवकुमार मिश्र, मार्क्सवादी साहित्य चिंतन इतिहास तथा सिद्धांत, पृ. 250.
2. वही, पृ. 264.

प्रवाहमान सक्रियता एवं सर्जना की चेतना से मनुष्य प्राकृतिक शक्तियों पर विजय प्राप्त कर सकता है और अपने जीवन को सुखी तथा संपन्न बनाने में सहायता मिलती है ।[1] गोर्की भाववाद या आदर्शवाद का विरोधी थे । उन्होंने साहित्य को बिलकुल भौतिक माना था । उनका कथन है - मेरे लिए, मनुष्य से बाहर कोई भी भाव या विचार अपना अस्तित्व नहीं रखते । मनुष्य ही सारी वस्तुओं, सारे भावों एवं विचारों का सृष्टा है, वही प्रकृति की संपूर्ण शक्तियों का भावी स्वामी भी है । संसार में जो कुछ सुन्दर तथा श्रेष्ठ है, वह सब मानव-श्रम की उपज है, श्रम की प्रक्रिया ही समस्त भावों एवं विचारों का उद्गम है ।[2]

कलाकार व साहित्यकार के दायित्व पर चर्चा करते हुए उन्होंने कहा है कि कलाकार को विचारों व दर्शन के आविष्कार करने की ज़रूरत नहीं है बल्कि उन्हें यथार्थ गहराई से पहचानना चाहिए । इस बात को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने एक उदाहरण पेश किया है - जिस प्रकार हवा से नाइट्रोजन गैस निकाल ली जा सकती है, उस प्रकार विचार नहीं निकाले जा सकते । विचारों का जन्म धरती में होता है, उनका उद्गम मानव इतिहास है ।[3] साहित्यकार के दायित्व पर प्रकाश डालने के बाद उन्होंने साहित्य के दायित्व को स्पष्ट करते हुए कहा है - साहित्य को मानव श्रम की वरीयता पर बल देना चाहिए ताकि क्रांति को सहायता मिले ।[4] उन्होंने मानव-श्रम को साहित्यकृतियों में नायकत्व का

---

1. डॉ. शिवकुमार मिश्र, मार्क्सवादी साहित्य चिंतन इतिहास तथा सिद्धांत, पृ. 258.
2. वही, पृ. 260.
3. वही, पृ. 262.
4. वही, पृ. 262.

पद देने की बात की । उनके अनुसार - श्रम को एक रचनात्मक कार्य समझे बिना जीवंत कृतियों का सृजन नहीं हो सकता । साहित्य का दायित्व मनुष्य को परिवर्तित करना है । लेखकों के लिए यह अनिवार्य है कि वे सतही जीवन को देखने की बजाय यथार्थ जीवन के प्रति एक गहन अंतर्दृष्टि विकसित करें, तभी वे यथार्थ को उसकी वास्तविकता में तह तक पकड़ सकते हैं ।

गोर्की का विचारशील मेधा व्यक्तित्व मार्क्सवादी आदर्शों के प्रति पूर्णत: निष्ठावान है । उन्होंने यथार्थ को साहित्य का मर्म कहते हुए समाजवादी यथार्थ को साहित्य के लिए अनिवार्य सिद्ध किया । उन्होंने साहित्य के दायित्व को क्रांतिकारी दृष्टिकोण से देखा और उसे सर्वहारा के हित में पहचानने का आह्वान किया । उनके साहित्य संबंधी विचार प्रगतिवादी साहित्य चिंतन के लिए महत्वपूर्ण उपलब्धि कहें तो कोई अतिरंजित बात नहीं होगी ।

क्रिस्टोफर कॉडवेल

कॉडवेल ने अपनी रचना "भ्रम और वास्तविकता" (Illussion and Reality) में अपनी साहित्य संबंधी अवधारणाओं को कविता के विवेचन के माध्यम से प्रस्तुत किया । उनका मानना है कि साहित्य का अध्ययन समाज सापेक्ष होना चाहिए । उससे पृथक् नहीं । कॉडवेल ने तो कविता या कला को समाज की सीपी से उत्पन्न मोती माना है । उनके अध्ययन की संपूर्ण बुनियाद, ऐतिहासिक भौतिकवाद हैं ।

उन्होंने ज्ञान के दूसरे क्षेत्र भौतिकी, इतिहास, जीव विज्ञान, दर्शन, नृतत्व शास्त्र, आदि को भी समाज की उपज मानी । उनकी मान्यता है कि समाज के वर्गों में विभक्त होने के कारण साहित्य का भी क्षेत्र उच्च वर्ग तक सीमित रहा । फलस्वरूप साहित्य का समाजीकरण संभव नहीं हो सका । कला के अंतर्गत शिल्प का महत्व पूर्ण स्थान प्राप्त हो गया । उस अवस्था की वजह कला के सामाजीकरण के बदले कला में सामूहिक संवेगों की अभिव्यक्ति हुई । कला को आर्थिक क्रिया की संज्ञा देकर उन्होंने समर्थन किया कि आदिम मनुष्य के सारे कार्य आर्थिक आवश्यकताओं से परिचालित थे । सामूहिक संवेगों से निर्मित वस्तुतत्व को ही काडवेल ने कविता के सत्य की संज्ञा दी है ।[1] पूँजीवादी साहित्य बूर्जुआ वर्ग के क्रिया कलापों तथा नीतियों का सच्चा प्रतिबिम्ब है । काडवेल का कथन है कि जहाँ बूर्जुआ वर्ग के लिए बाज़ार होड़ करने का मंच है वहाँ शोषित समाज के लिए परतंत्रता, उत्पीड़न एवं शोषण का पर्याय है । होड़ की स्वतंत्रता घोर व्यक्तिवाद में तब्दील हो गया हैं और उसने मानवीयता को अपार क्षति पहुँचाई भी है । उनका मत है कि बूर्जुआ कवि की कविता असंगतियों और अन्तर्विरोधों से पूर्ण हैं, जिसका सीधा संबंध पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की असंगतियों तथा अंतर्विरोधों से है । उनके विचार में कला कला के लिए जैसी बात "कला मेरे लिए" का ही पर्याय है । उनके मत में सामन्तवादी व्यवस्था के अन्तर्गत बूर्जुआ वर्ग के लिए स्वतंत्रता की एकमात्र शर्त व्यवस्था की समाप्ति है । वैसे ही सर्वहारा वर्ग

---

1. Not poetry's abstract statement - its content of facts- but its dynamic role in society - its content of collective emotion is - therefore poetry's truth. Illussion and Reality, 1956-Introduction, P.29.

की स्वतंत्रता का मतलब पूँजीवादी व्यवस्था का उन्मूलन है । उन्होंने किसी न किसी सीमा तक कलाकारों का सर्वहारा से जुड़ा रहना अनिवार्य माना है । कलाकारों से उनका आग्रह है कि कलाकार नये विचारों के संसार में जियें, अपनी आत्मा को अतीत के हाथ गिरवी न रखें । कलाकार कला के माध्यम से अपने अनुभवों को समाज के अनुभवों से संश्लेषित कर एक नयी सृष्टि करें। क्योंकि सच्ची सौंदर्य भावना का जन्म वर्ग रहित, शोषणमुक्त समाज में ही संभव हो सकता है ।

बरतोल्ड ब्रेख्त

प्रगतिवादी साहित्य चिंतन में ब्रेख्त का स्थान महत्वपूर्ण है । उनके क्रांतिकारी चिंतन ने कला-साहित्य के क्षेत्र में एक नया जागरण पैदा किया था । उन्होंने कला-संबंधी पूर्वधारणाओं का उल्लंघन करके उन्हें एक नया परिप्रेक्ष्य दिया था । उनके साहित्य चिंतन की केन्द्रीय बात यह है कि कला तादात्म्य की वस्तु नहीं है । कला से तादात्म्य स्थापित करना मानो अस्वतंत्र होना है । उन्होंने अपने साहित्य चिंतन में पाठकों को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया । उनके विचार में पाठक ही प्रमुख है । पाठक स्वतंत्र है । वह दरअसल एक द्रष्टा है । इसलिए पाठक का कृति से स्वतंत्र होना, ज़रूरी है । उनके मत में पाठक का कृति से तादात्म्य होने से यह हानि होती है कि पाठक यथार्थ से दूर हो जाता है । वास्तव में तादात्म्य की स्थिति में यथार्थ से पाठक सीधे साक्षात्कार स्थापित नहीं करता है बल्कि कृति का गुलाम बन जाता है । अब तक साहित्य

यही करता आ रहा था । साहित्य का लक्ष्य पाठकों को प्रतिक्रिया से वंचित रखना था । इसके बारे में उनका मानना है कि साहित्य पूँजीवादी साहित्य का पोषक है ।

ब्रेख्त का यही विचार है कि साहित्य का लक्ष्य समाज में परिवर्तन लाना है ।[1] इसके लिए उनका मानना है कि साहित्य से पाठकों को यथार्थ की जानकारी मिले और उनमें प्रतिक्रिया उजागरित हो जाय । साहित्य का लक्ष्य यही होना चाहिए कि पाठक साहित्य के अध्ययन से सोच_ सके और मनन के लिए काबिल हो जाय, याने साहित्य का लक्ष्य पाठकों को विचारशील बनाना है । क्योंकि विचार करने से ही प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है । प्रतिक्रिया पाठकों को विद्रोही चेतना से संपृक्त करती है ।

ब्रेख्त के विचार में कृति पाठक को यथार्थ स्थिति से अवगत कराती है । पर यथार्थ से अवगत होने के लिए पाठक की स्वतंत्रता अनिवार्य है । पाठक कृति की वस्तु से परे स्वतंत्र होने से उसके मन में क्षोभ पैदा हो सकता है । वह क्षोभ उसे विद्रोही बनाता भी है । इस प्रकार पाठक को विद्रोही बनाना साहित्य का लक्ष्य है ।[2]

---

1. डा. विश्वंभरनाथ उपाध्याय, समकालीन मार्क्सवाद, पृ. 80.
2. वही, पृ. 80.

ब्रेख्त की एक अन्य महत्वपूर्ण धारणा संपूर्णता या समग्रता से जुडी हुई है । समग्रता मात्र कृति तक सीमित नहीं होती । पाठक पर उसके प्रभाव पडता है । उसकी प्रतिक्रिया भी इसमें शामिल रहती है । अतः ब्रेख्त का कहना है कि "कृति में संपूर्णता नहीं होती, दरअसल वह संप्रेषण की पूरी प्रक्रिया में निहित है ।[1]

इस प्रकार ब्रेख्त का साहित्य संबंधी विचार मौलिक है । उन्होंने तत्कालीन साहित्य संबंधी अवधारणा को गलत साबित किया पर साहित्य की एक नयी अवधारणा भी प्रस्तुत की । ब्रेख्त का महत्व इसमें है कि उन्होंने कला और कथ्य दोनों की संगति की रक्षा की । उन्होंने मार्क्सवादियों पर प्रचारात्मकता का दोष लगानेवालों का मुँह बन्द कर दिया और प्रमाणित कर दिया कि मार्क्सवाद से प्रभावित कलाकार कला की शर्तों को भी पूरा कर सकता है । उन्होंने पारंपरिक व रूढिग्रस्त कला परंपरा को एक झटके से अलग कर दिया और कथ्यहीन कला या रूपवादी आधुनिकता के चक्कर से कृति को बचा भी लिया ।

अन्टोनियो ग्रांशी (1891- 1937)

अन्टोनियो ग्रांशी इटली के प्रसिद्ध मार्क्सवादी साहित्यकार थे । वे कला और साहित्य को पूँजीवादी, सामन्तवादी

---

1. विश्वंभरनाथ उपाध्याय, समकालीन मार्क्सवाद, पृ. 82.

संस्कृति से मुक्त करने के पक्ष में थे । उन्होंने संस्कृति और इतिहास के आधार पर कला और साहित्य का निरूपण किया । उनकी यही क्रांतिकारी विचारधारा थी कि इतिहास और संस्कृति दोनों का आपसी निकट संबंध है । अतः सर्वहारा वर्ग के हित का साहित्य तभी संभव है जब साहित्य पूँजीवादी-सामंती-संस्कृति और इतिहास से पूर्णतः मुक्त होता है । इसलिए कलाकार को चाहिए कि वे पूँजीवादी कला का तिरस्कार करें । उन्होंने समाजवाद की आवश्यकता और सफलता के लिए आन्दोलन की ज़रूरत पर ज़ोर दिया । समाजवादी समाज पर विचार करते हुए उन्होंने कहा कि पूँजीवादी सर्वहारा पर मात्र दण्ड व आतंक से शासन नहीं करते हैं अपितु संस्कृति और विचारधारा के संप्रभुत्व के साथ शासन करते हैं । आम जनता उनसे निर्धारित संस्कृति व विचारधारा से संपृक्त होकर जीवन बिताती है । पूँजीवादियों के इस संप्रभुता को तोड़ना श्रमिक वर्ग का पहला प्रयास होना चाहिए । इसके लिए श्रमिक वर्ग के पक्षधर बुद्धिजीवियों और साहित्यकारों को एक समांतर सांस्कृतिक संप्रभुता का विकास करना चाहिए । समाजवाद की स्थापना के लिए जो क्रांति चलानी है उसका कला और साहित्य से गहरा संबंध होना चाहिए । ग्रामशी के समाजवादी विचार में सांस्कृतिक सृजन और चिंतन का जनवादी निकष भी शामिल है । उन्होंने समाजवादी समाज में नवीन जनवादी संस्कृति तथा कला साहित्य की प्रभुता पर बल दिया । इसका कारण तब संभव है जब बरकरार बुर्ज़ुआ समाज में पूँजीवादी कला, साहित्य, शिक्षा और मानसिक प्रभुत्व से मुक्ति प्राप्त हो सके ।

ग्रांशी के विचारों की महत्ता का मूल कारण उनकी, मार्क्सवाद के प्रयोग संबंधी मौलिक धारणाएँ हैं । ग्रांशी के मौलिक चिंतन के केन्द्र में संस्कृति का अधिनायकत्व है (Cultural hegemony) उनके अनुसार एक खास इतिहास प्रक्रिया - साहित्य की सृष्टि करती हैं । उसी

प्रकार साहित्य उसी इतिहास प्रक्रिया को उसके स्थायित्व के लिए आवश्यक शक्ति प्रदान करता है । कला और साहित्य सांस्कृतिक आधिपत्य के साधन बन सकता है । साथ ही साथ सांस्कृतिक आधिपत्य के विरुद्ध गंभीर चुनौती देनेवाली राजनैतिक शक्ति भी हो सकते हैं ।

ग्रांशी का यह क्रांतिकारी चिंतन मार्क्सवादी कला और साहित्य में एक अतिशय प्रगति है । उन्होंने पूँजीवादी ताकतों के हाथ से साहित्य की मुक्ति की बात की । उनका चिंतन सूक्ष्म और गहन है । उन्होंने पूँजीवादियों के शोषण को बारीकी से देखा और सूचित भी किया कि उससे मुक्ति सर्वहारा वर्ग के सांस्कृतिक प्रभुत्व के वरण से ही संभव है । उनका चिंतन प्रगतिवादी साहित्य के संदर्भ में एक सराहनीय कदम है ।

जार्ज लुकाच

मार्क्सवादी साहित्य-चिंतन के क्षेत्र में लुकाच का योगदान महत्वपूर्ण है । वे यथार्थ के व्याख्याता के रूप में प्रतिष्ठित है । उनके विचार में एक नये और परिवर्तित संसार की आकांक्षा लोगों के मन में विद्यमान रहती है । मार्क्सवाद संसार के विघटन तथा विनाश के बीच से एक नयी दुनिया के उद्भव की प्रतीक्षा में हैं ।[1] मार्क्सवादी दर्शन मानता है कि मनुष्यता एक निश्चित सार्थक गन्तव्य तक अवश्य पहुँच जाएगी । मार्क्सवाद की मनुष्यता को संपूर्ण विरासत के प्रति गहरी संपृक्ति है । लुकाच मार्क्सवाद को अतीत की विरासत के परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकन करते हैं । परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि मार्क्सवादी अतीत की पुनरावृत्ति चाहता है, यह तो मार्क्सवाद के इतिहास दर्शन का निष्कर्ष है कि अतीत को सर्वथा गत न मानकर नये रूपों के अन्तर्गत उसकी उपस्थिति को आवश्यक तथा महत्वपूर्ण माना जाएँ । मार्क्सवादी इतिहास दर्शन मनुष्य को उसकी संपूर्णता में देखता है ।

---

1. डा. शिवकुमार मिश्र, पृ. 297.

लुकाच के अनुसार मार्क्सवाद का यह दृष्टिकोण मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र को प्राचीन क्लासिकों तक पहुँचाने में एक सेतु का काम करता है तथा समकालीन साहित्य के क्लासिकों की खोज भी कर सकता है ।

लुकाच ने यथार्थवाद का सही रूप - "यथार्थवाद मिथ्या वस्तुनिष्ठता तथा मिथ्या आत्मनिष्ठता के बीच का कोई मध्य मार्ग नहीं है, वरन् इसके विपरीत वह हमारे समय की भुलभुलैया में बिना किसी नक्शे के भटकनेवाले लोगों द्वारा गलत रूप से प्रस्तुत किये गये प्रश्नों के फलस्वरूप उत्पन्न समस्त प्रकार के झूठे असमंजसों के विरुद्ध एक सत्य तथा सही समाधानों तक पहुँचनेवाला तीसरा रास्ता है ।"[1]

साहित्य का दायित्व

साहित्य के दायित्व पर विचार करते हुए लुकाच ने लिखा है - नया जीवन जिन नये प्रश्नों को लेकर सामने आ रहा है, उन्हें हल करने की जिम्मेदारी साहित्य को ही उठानी है । यदि साहित्य इतिहास द्वारा सौंपे गये इस गंभीर दायित्व का सही मानों में पूर्ति करना

---

1. Realism however is not same of middle way between false objectivity and false subjectivity, but on the contrary the true, solution bringing third way, opposed to all the pseduo-dilemmas engendered by the wrongly posed quistions of those who wander without a chart in the labyrinth of our time, same as above, P.6.

चाहता है तो उसे अपने बीच से नये लेखकों का सृजन करना होगा । लेखकों के दार्शनिक तथा राजनीतिक दृष्टिकोण को युग के अनुरूप ढालना होगा । उसे नये इतिहास और युगीन आवश्यकताओं का परिचय हो । आज ऐसे साहित्य की आवश्यकता है जो समय के उलझनों से भरे जंगल में अपनी समूची प्रकाश किरणों के साथ गहराई में प्रविष्ट हो सके ।

लुकाच उस कृति को सफल मानता है जिसमें प्रतीति और सार तत्व, व्यक्ति और सामान्य, तात्कालिकता और अमूर्त चिंतन आदि सभी विरोधी तत्वों का समन्वय हो और यों समग्रता की सृष्टि करे । इस कारण पाठक को कृति में अभेद्य एकता महसूस होती है । इतिहास और वर्ग चेतना के संदर्भ में लुकाच ने पूँजीवाद की आलोचना भी की है । इससे मनुष्य पूँजीवाद में पूर्ण विश्व बोध की संभावना नहीं रहती है । प्रत्येक स्थिति, व्यक्ति की मन:स्थिति, संबंध, समीकरण की दशा आदि वक्र या विकृत हो जाती है और कहीं अर्थ नज़र नहीं आता । सिर्फ व्यापारिक मन:स्थिति नज़र आती है । लुकाच ने अपनी रचना "इतिहास और वर्गचेतना" में बताया है कि पूँजीवादी साहित्य में पदार्थीकृत और विश्रृंखलित मानवचेतना और मानवदशा का ही चित्रण होता है । वह उस साहित्य को श्रेष्ठ मानते हैं जो व्यवस्था के प्रतीयमान रूप को बेधकर, उसके भीतरी मानव-विरोधी तत्व को उद्घाटित कर देता है । यह वही कर सकता है जो क्षणों या विश्रृंखलित मनोदशाओं को ही बिंबित न करता है, बल्कि समाज को संपूर्णता में देख सकता है ।

लुकाच पूँजीवाद को कला का शत्रु मानते थे । उनका कथन है - पूँजीवाद सौंदर्य विनाशक होता है । वह मनुष्य और उसके सृजन को क्रयविक्रय की वस्तु बनाकर उन्हें साधन या इस्तेमाल का माध्यम बना देता है । उन्होंने पूँजीवाद में बरकरार वस्तु पूजा की प्रवृत्ति से उत्पन्न संकट या आत्मनिर्वासन को भी रेखांकित किया है । इसमें उत्पादन का मूल्य, विनिमय मूल्य से नियमित व निर्धारित होता है । इससे आत्मनिर्वासन तथा पदार्थीकरण बढता है । मनुष्य अपने द्वारा उत्पादित वस्तुओं के साथ रहस्यमय स्थिति में जीने लगता है । और एक दूसरे में रहस्य का आवरण भी रहता है । फलस्वरूप साहित्य असलियत से वंचित रहता है और इसकी वजह विकृत भी होने लगता भी है ।

लुकाच का उपर्युक्त साहित्य चिंतन मार्क्सवादी साहित्य विचारक के रूप में उनकी महती प्रतिभा से हमें परिचित कराता है । उन्होंने साहित्य को इतिहास व दर्शन से सम्बद्ध करके उसे एक नया आयाम दिया । यथार्थ की सही परिभाषा देकर उसे अपने समय के उलझावों से निकालकर सही समाधान तक पहुँचानेवाला तीसरा रास्ता बताया । उन्होंने साहित्य का समाज के प्रति दायित्व को निर्धारित करके साहित्यकारों का दृष्टिकोण युग के अनुरूप ढालने पर बल दिया । वस्तुतः लुकाच साहित्य के ज़रिये समाज को संपूर्णता में देखने के पक्षपाती थे ।

---

1. विश्वंभरनाथ उपाध्याय, समकालीन मार्क्सवाद, पृ. 76.

राल्फ फाक्स {1900 - 1937}

राल्फ फाक्स के अनुसार कला वह साधन है जिसके माध्यम से मनुष्य यथार्थ से जूझता है और उसे आत्मसात करता है । अपनी भीतरी चेतना की निहाई पर लेखक वास्तविकता की दहकती हुई धातु को रखता है तथा विचारों के हथौड़े से उसे निर्ममता पूर्वक पीटकर अपने उद्देश्य के अनुरूप एक नई शकल में ढालता है । सृजन की समूची प्रक्रिया, कलाकार की संपूर्ण पीडा, यथार्थ के साथ उसके हिंस्र संघर्ष में देखी जा सकती है । इसके परिणामस्वरूप वह स्वयं संसार की एक सत्य तस्वीर गढ सके । प्रत्येक महान कलाकार उपर्युक्त हिंसक युद्ध में शामिल हैं । उनके सामने जीवन एक ऐसा युद्ध क्षेत्र है जहाँ निरंतर स्वर्ग और नरक के बीच, सिंहासन में आरूढ तथा सिंहासन से च्युत देवताओं के बीच, मनुष्य की आत्मा के लिए संघर्ष चलता रहता है ।

राल्फ फाक्स के अनुसार सृजन प्रक्रिया का सार बाह्य यथार्थ तथा सृष्टि कर्ता के बीच चलनेवाला संघर्ष ही है । कलाकार बाह्य यथार्थ को अपने वश में करता हुआ उसको नये सिरे से प्रस्तुत करता है । साथ ही साथ उन्होंने लेखकों के दायित्व पर चर्चा करते हुए कहा है कि अतीत में जो कुछ समर्थ और जीवंत है, उसे अवश्य ग्रहण करना होगा । वर्तमान में जो कुछ उपयोगी है उसे भविष्य के निर्माण के लिए इस्तेमाल करना भी चाहिए । यही क्रांतिकारी लेखक का दायित्व है ।

उनके अनुसार मार्क्सवाद लेखक के लिए कोई दिखाऊँ पोशाक नहीं । वह लेखक को उसके लिए योग्य बनाता है कि वह गहनतम ज्ञान की अभिव्यक्ति कर सके । मार्क्सवाद को अनिवार्यत: लेखक की दुनिया को देखने और समझने का तरीका बनाना चाहिए । इसके साथ उन्होंने यह भी कहा कि लेखक के द्वारा कृति के अंतर्गत अपने विचार को थोपना लाजिमी नहीं है । मार्क्सवादी दृष्टिकोण स्वत: परिस्थितियों और पात्रों के माध्यम से स्वाभाविक रूप में उभर कर आना चाहिए । यही सच्ची उद्देश्यपरकता है ।

राल्फ फाक्स ने साहित्य के भाव तत्व और रूप तत्व के पारस्परिक संबंध पर भी प्रकाश डाला है । उनके अनुसार मार्क्सवाद भाव तत्व और रूप तत्व को एक दूसरे से अलग पडी निष्क्रिय इकाईयाँ नहीं मानता । रूपतत्व दरअसल भावतत्व निसृत, उससे अभिन्न हिस्सा है । रूपतत्व भावतत्व पर अपना प्रभाव छोडता है । दोनों परस्पर आश्रित हैं ।

हावर्ड फास्ट

हावर्ड फास्ट के अनुसार सच्ची यथार्थ चेतना अपने अंतर्गत अतीत तथा भविष्य का स्पंदन लिये रहती है । याने यह अनस्यूत के एक सूत्र में अतीत तथा भविष्य को बाँधे रहती है । लेकिन देखने की बात है कि वर्तमान का यथार्थ स्वयं अपना अस्तित्व रखता भी है । उसका मूल्यांकन

वर्तमान के प्रतिमानों के द्वारा ही संभव भी है । कलाकार को चाहिए कि वह कलाकृति के अंतर्गत यथार्थ का चित्रण उसी प्रकार करे ताकि जीवन के विशाल कैनवास से प्रभावशाली छवियों का आकलन हो । तभी कृति सार्थक बनती है । उन्होंने यथार्थ की स्पष्ट परिभाषा दी कि प्रकृति का यथार्थ चित्रण तभी सार्थक होता है जब लेखक यथार्थ का विवेकपूर्ण चयन करता है । उन्होंने यथार्थवादी कला के अंतर्गत वस्तुतत्व तथा रूप तत्व की सापेक्षिक स्थिति की चर्चा की । उन्होंने वस्तुतत्व को प्रमुखता दी है । उनका विचार है कि वस्तु तत्व के खोखलेपन को शिल्प की सजावट द्वारा ढकने का परिणाम अंतत: कला के रूप पक्ष की असलियत ही स्पष्ट होती है । शिल्पगत क्षमता कभी भी श्रेष्ठ कला का निर्माण नहीं कर सकती । उन्होंने यह भी कहा कि रूपतत्व का निषेध करना कला का ही निषेध करना है ।[1] कला में रूपतत्व का भी अनिवार्य महत्व है । रूपतत्व के ज़रिये ही कलाकार वस्तु को संप्रेषित करता है । वस्तु तत्व में निहित संघर्षशील चेतना को उजागरित करने की क्षमता रूपतत्व में हैं । लेकिन प्रमुखता तो वस्तुतत्व ही है । कला की चरितार्थता पर चर्चा करते हुए हावर्ड फास्ट ने लिखा कि कला या साहित्य की चरितार्थता उसकी संप्रेषणीयता में ही है । कलाकृति को लेखक तथा पाठक के बीच संपर्क स्थापित करने का माध्यम बनना चाहिए । उनके साहित्य चिंतन में यथार्थ की सही व्याख्या, वस्तु तत्व और रूपतत्व का महत्व, कृति की संप्रेषणीयता आदि प्रमुख है । यथार्थ की नयी व्याख्या ही उनके साहित्य चिंतन की सबसे बड़ी उपलब्धि है ।

---

1. Marxists do not reject form, form if they did, they would of necessity have to reject art.

शिवदान सिंह चौहान

हिन्दी में "प्रगतिवाद" शब्द का प्रयोग मूलत: मार्क्सवादी साहित्य के विशेष संदर्भ में होता है । श्री शिवदान सिंह चौहान ने "प्रगतिवाद" को मार्क्सवाद का पर्याय नहीं माना, वरन् उनके अनुसार "प्रगतिवाद" साहित्य का मार्क्सवादी दृष्टिकोण है ।[1] श्री चौहान के अनुसार मार्क्सवाद मूलत: एक जीवन-दर्शन है । इस जीवन दर्शन ने सौंदर्यशास्त्र, साहित्य या कला के उद्‌भव और विकास, उसके प्रयोजन आदि का विवेचन करते हुए एक वस्तुवादी सौंदर्य सिद्धांत का निर्माण किया । प्रगतिवाद से तात्पर्य मार्क्सवाद के आधार पर विकसित इस वस्तुवादी सौंदर्य दृष्टि से है, न मार्क्सवाद से । दूसरे शब्दों में "प्रगतिवाद" को सौंदर्यशास्त्र संबंधी मार्क्सीय दृष्टिकोण का हिन्दी नामकरण समझना"[2] शिवदान सिंह चौहान के अनुसार अधिक संगत है ।

साहित्य संबंधी अपनी सैद्धांतिक मान्यताओं के अन्तर्गत शिवदान सिंह चौहान ने साहित्य तथा कला के उद्‌भव और विकास, समाज के साथ साहित्य का संबंध, साहित्य और उपयोगितावाद जैसी महत्वपूर्ण समस्याओं पर विचार किया है ।

---

1. साहित्य की समस्यायें, पृ. 53.
2. वही.

साहित्य या कला

साहित्य या कला पर विचार करते हुए शिवदान सिंह चौहान ने कहा कि साहित्य या कला मानव समाज और प्रकृति से समन्वित सतत परिवर्तनशील पदार्थ-जगत् से उद्भूत मनुष्य की चेतना का विशिष्ट रूप है और उसके ही सत्य को प्रतिबिम्बित करता है ।[1] अर्थात् वस्तु-जगत के सहज संघर्ष की उपज "मानव-चेतना" की विविध रूप अभिव्यक्ति साहित्य या कला के माध्यम से होती है । श्री चौहान के इस विचार से स्पष्ट होता है कि मार्क्स और एंगेल्स की भाँति वे भी साहित्य या कला का संबंध इस पदार्थ जगत् की द्वन्द्वात्मकता और उसके द्वारा विकसित "मानव-चेतना" से मानते हैं ।

प्रगतिवादी साहित्य चिन्तन का प्रमुख तत्व सामाजिक जीवन के साथ साहित्य का अटूट संबंध है । शिवदान सिंह चौहान के अनुसार "साहित्य का समाज से अर्थात् समाज के जीवन से गहरा संबंध है ।"[2] क्योंकि साहित्यकार सामाजिक प्राणी है । उसका जन्म समाज में होता है और उसके व्यक्तित्व का विकास उस समाज के सांस्कृतिक माहौल और मूल्यों के अनुरूप होता है । इसी कारण शिवदान सिंह चौहान का कथन है कि साहित्यकार समाज की विचारधाराओं और मनोवृत्तियों से अपने को अछूता नहीं रख सकता ।[3]

---

1. साहित्य की समस्यायें, पृ. 54.
2. साहित्यानुशीलन, पृ. 21.
3. वही, पृ. 95.

साहित्य और यथार्थ पर चर्चा करते हुए उनका मानना है कि यथार्थ की सम्यक् पहचान और साहित्य या कला में उसकी पूर्ण अभिव्यक्ति मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र का मूल मंत्र है। तदनुरूप ये प्रगतिवाद के भी प्रमुख तत्व हैं। प्रगतिवाद में इस यथार्थवाद को साहित्य की कसौटी भी मानी जाती है। श्री शिवदान सिंह चौहान के अनुसार यथार्थवाद कला या साहित्य के निर्माण का एकमात्र आधार है। "यथार्थवादी प्रणाली के अतिरिक्त कला-सृष्टि की कोई अन्य प्रणाली कभी नहीं।"[1] यथार्थ और साहित्य की इस संबंध को सही ढंग से समझनेवाला साहित्यकार ही युगानुकूल रचना में सफल हो सकता है। अत: उसकी एकमात्र कसौटी उसका यथार्थवाद ही है। श्री चौहान के मतानुसार "कला चूँकि वास्तविकता को ही प्रतिबिम्बित करती है, इसलिए उसमें व्यक्त किसी भी विचार की सच्चाई वास्तविकता से तुलना करके ही जाँची जा सकती है।"[2] स्पष्ट है कि शिवदान सिंह चौहान रचना में यथार्थ और उसकी समग्र अभिव्यक्ति की आत्यन्तिक महत्ता को माननेवाले हैं। फिर भी वे साहित्य को यथार्थ का दर्पण मानने के पक्ष में नहीं है। उनके अनुसार साहित्य या कला की कोई कृति अपने समय की वास्तविकता की निष्क्रिय प्रतिबिम्ब मात्र नहीं होती जिस प्रकार आईने में पडा प्रतिबिम्ब होता है।[3] श्री चौहान ने साहित्य में यथार्थ की कलात्मक अभिव्यक्ति पर ज़्यादा बल दिया है। उनके अनुसार यथार्थवादी रचना से तात्पर्य "कलाहीन, मानव अनुभूतियों से शून्य, नीरस, साहित्य की रचना से नहीं है।

---

1. साहित्य की समस्यायें, पृ. 49.
2. वही, पृ. 22.
3. साहित्य की परख, पृ. 19.

साहित्य और उपयोगितावाद पर चर्चा करते हुए उन्होंने साहित्य को इस भौतिक जगत की वस्तु मानी । उसकी सार्थकता अपनी उपयोगिता में है । उनके अनुसार "कला या साहित्य को सामाजिक उद्देश्य और उपयोगिता से अलग नहीं किया जा सकता, ये दोनों उसके आवश्यक अंग है ।[1] कला या साहित्य, समाज या मनुष्य का परिवर्तित परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न प्रभाव डालकर परिष्कार करती रहती है, उसे बदलती रहती है ।[2] और मनुष्य की चेतना को अधिक संश्लिष्ट और व्यापक बनाता है । इससे स्पष्ट है कि श्री चौहान को, व्यक्तिगत एवं सामाजिक परिवर्तन में साहित्य की उपयोगिता पर पूरा विश्वास है ।

साहित्य की इस सोद्देश्यपरक उपयोगिता के संदर्भ में श्री शिवदान सिंह चौहान ने समाज के प्रति रचनाकार के दायित्व की ओर भी संकेत किया है । उनके विचार में साहित्यकार को अपनी रचना में जीवन के वस्तु सत्य को मूर्त व संपूर्ण रूप से प्रतिबिम्बित करने और मनुष्य के समग्र व्यक्तित्व का पुर्ननिर्माण करने के लिए भगीरथ प्रयत्न करना पडता है ।[3]

साहित्य में वस्तुतत्व और रूपतत्व की महत्ता पर चर्चा करते हुए शिवदान सिंह चौहान ने कहा -"विषय वस्तु और रूप विधान का अन्तरंग संबंध है । नई विषय वस्तु की अभिव्यक्ति के लिए नये कला रूपों

---

1. साहित्य की समस्यायें, पृ. 49.
2. साहित्य की परख, पृ. 19-20.
3. साहित्य की समस्यायें, पृ. 35.

का सृजन होता है ।[1] प्रगतिवादी साहित्य में कहीं-कहीं सामाजिकता और वर्ग-संघर्ष के अतिरिक्त आग्रह से रचना के रूप-तत्व की उपेक्षा-सी हो गई थी । चौहान ने इसका विरोध किया है । उनका तर्क यह है कि "जब हम अपनी लेखनी के शस्त्र से लड़ने की घोषणा करते हैं तो क्या हमारा आशय अपनी रचनात्मक शक्ति और कला नैपुण्य से नहीं होता ?"[2] स्पष्ट है कि प्रगतिवादी साहित्य चिंतक चौहान ने साहित्य के रूप पक्ष या कलापक्ष के बारे में उदारवादी दृष्टि से विचार किया । रचना में वस्तु-तत्व के साथ उसकी समर्थ अभिव्यक्ति यानी कलापक्ष की महत्ता को भी वे अवश्य मानते हैं ।

शिवदान सिंह चौहान ने साहित्य को समष्टिगत माना । उसमें व्यक्त सौंदर्य व्यक्तिगत अनुभूतियों से बढ़कर समष्टिगत अनुभूतियों के आधार पर निर्मित होता है । यदि साहित्य या कला में व्यक्त भाव या अनुभूति का आधार वैयक्तिक अनुभव है तो उसे सामाजिक रूप से अनुभूत नहीं किया जा सकता । याने वह सौंदर्य की सृष्टि नहीं कर सकता ।

विदित है कि शिवदान सिंह चौहान ने मार्क्सवादी सौंदर्य शास्त्र को अपनी साहित्यिक चिंतन का आधार बनाया । फिर भी उसकी अतिरंजनाओं और संकीर्णताओं से अपने चिंतन को बचाया । "इनका दृष्टिकोण मार्क्सवादी है, फिर भी उनकी सतत् जागरूक चेतना उसे उसी सीमा तक महत्व

---

1. साहित्य की समस्यायें, पृ. 71-72.
2. साहित्य की परख, पृ. 24.

प्रदान करने के लिए स्वीकृत हुई है जिस सीमा तक उससे साहित्य की साहित्यकता नष्ट नहीं होती और प्रचार का अस्त्र नहीं बन जाता ।

राम विलास शर्मा

साहित्य और कला संबंधी राम विलास शर्मा की दृष्टि मार्क्स और एंगेल्स के विचारों पर आधारित है । साथ ही उसमें समयानुकूल थोडा संशोधन भी किया गया है । साहित्य से राम विलास शर्मा का तात्पर्य प्रगतिशील साहित्य से है जो जनता की तरफ़दारी करता है ।[1]

साहित्य और कला पर विचार करते हुए उन्होंने साहित्य में सामाजिक यथार्थ को मान्यता दी । उनके अनुसार - अपनी रचनाओं में साहित्यकार जीवन का जो चित्र पेश करता है उसके "चमकीले रंग और पार्श्वभूमि की गहरी काली रेखाएँ दोनों यथार्थ जीवन से उत्पन्न होती है । इस वास्तविक जगत से सामाजिक जीवन और सामाजिक संघर्ष से दूर रहना साहित्य में ह्रास का लक्षण है ।[2] साहित्य और समाज के निकट संबंध को स्थापित करते हुए भी डा. शर्मा यह नहीं मानते हैं कि साहित्य किसी समाज व आर्थिक व्यवस्था का प्रतिबिम्ब है । मार्क्स और एंगेल्स के विचारों को उद्धृत करते हुए राम विलास शर्मा ने ऐसी गलत धारणाओं का खण्डन किया है ।

---

1. स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य, पृ. 79.
2. आस्था और सौंदर्य, पृ. 22.

उनके अनुसार "सामाजिक विकास की परिस्थितियों से कला की विषयवस्तु प्रभावित होती है, एक सीमा तक नियमित होती हैं । किन्तु वह आर्थिक जीवन का प्रतिबिम्ब मात्र नहीं है ।[1] स्पष्ट है कि राम विलास शर्मा साहित्य की सापेक्ष स्वतंत्रता के समर्थक है । इस सापेक्ष स्वतंत्रता के कारण साहित्य या कला के सभी रूपों में एक ही मांग नहीं की जा सकती, और अनुकूल सामाजिक परिस्थितियों के होते हुए भी यह आवश्यक नहीं है कि उच्चकोटि की कला का निर्माण हो जाय ।

साहित्य में चित्रित यथार्थ के प्रति रामविलास शर्मा के विचार अत्यंत महत्वपूर्ण है । उनके अनुसार साहित्य यथार्थ का सीधा प्रतिबिम्ब कभी नहीं है । साहित्य में यथार्थ का फोटो ग्रैफिक अंकन संभव नहीं है । वस्तुतः रचना करते समय साहित्यकार यथार्थ की प्रामाणिकता पर पूरा बल देते हुए भी उसके सौन्दर्य को तीव्र बनाने के लिए कुछ हेर-फेर किया जाता है । उनके अनुसार यह साहित्य का मूल नियम है । ऐसे स्थानों पर साहित्यकार कल्पना का सहारा भी लेता है । उनके मत में यथार्थवादी चित्रण और कल्पना इन दोनों में परस्पर विरोध नहीं ।[2]

दरअसल यथार्थ और कल्पना के समन्वित चित्रण ही साहित्य में होता है ।

---

1. आस्था और सौंदर्य, पृ. 38.
2. वही, पृ. 20.

साहित्य के लक्ष्य पर विचार करते हुए डा. शर्मा ने कहा कि साहित्य का लक्ष्य जनता की सेवा है । "साहित्य का लक्ष्य जनता के जीवन की उन्नति करना ही है । जनता के आर्थिक और राजनैतिक संघर्ष में सहयोग देकर साहित्य नए समाज के निर्माण में सहायता पहुँचाता है ।"[1] इसके साथ ही साथ साहित्य मनुष्य की भावनाओं को जागृत करता हैं । उनके विचारों को पुष्ट और परिष्कृत करने में प्रेरणा देता है । अर्थात् साहित्य मनुष्य के अंर्तबाह्य जीवन के विकास में सहायक होता है ।

साहित्य के वस्तुपक्ष और कलापक्ष की चर्चा के संदर्भ में उन्होंने माना है कि वस्तु और कला साहित्य के प्रमुख तत्व हैं । फिर भी उनकी स्पष्ट धारणा यह थी कि "कला और विषय वस्तु समान रूप से साहित्य रचना के लिए निर्णायक महत्व की नहीं है । निर्णायक भूमिका हमेशा विषयवस्तु की होती है ।[2] उन्होंने कलापक्ष को भी महत्ता दी है । उसकी भूमिका यही है कि विषय वस्तु को प्रभावशाली बनाकर सामाजिक उपयोगिता में सहायक बने । उनके मत में - जब कोई कलाकार विषयवस्तु के सामाजिक महत्व के प्रति उदासीन होकर कला के सौन्दर्य की ओर ही दौड़ता है, तो बहुधा उसे निराश होना पड़ता है ।[3]

निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि रामविलास शर्मा के साहित्य चिंतन का आधार मार्क्सवादी दर्शन है । लेकिन उन्होंने अपने

1. प्रगति और परंपरा, पृ. 40
2. प्रगतिशील साहित्य की समस्यायें, पृ. 8.
3. प्रगति और परंपरा, पृ. 53.

चिंतन को देश और काल के अनुकूल परिवर्तित और परिवर्द्धित करने का प्रयास किया है । अपनी संशोधित दृष्टि के आधार पर उन्होंने मार्क्सवाद और उसके साहित्य चिंतन के प्रति लोगों की तमाम गलत धारणाओं को दूर करने का महान कार्य भी किया है ।

अमृतराय

अमृतराय का साहित्य चिंतन भी मार्क्सवाद पर आधारित है । उनके विचार में मनुष्य की चेतना परिस्थितियों का सृजन नहीं करती बल्कि परिस्थितियाँ ही मनुष्य की चेतना का सृजन करती हैं ।[1] यथार्थ जगत का आधार परिवेश है, जिसके स्वतंत्र और निरपेक्ष कुछ भी नहीं है । अर्थात् समाज कोई निराकार वस्तु नहीं बल्कि वह मनुष्यों का होता है । मानव अपनी जीविका के उपार्जन की प्रक्रिया में परस्पर संबंधित रहते हैं । जीविकोपार्जन के साधन स्थिर नहीं हैं । वे विकासमान हैं । विकास की प्रक्रिया सामाजिक संबंधों में परिवर्तन लाती है । इस प्रकार उत्पादन के साधनों के विकास के साथ सामाजिक संबंधों में भी परिवर्तन होता है । परिवर्तन का आधार वस्तु जगत है । कभी भी उससे निरपेक्ष नहीं हो सकता । याने परिस्थितियाँ ही मनुष्य चेतना को गढती हैं ।[2]

मार्क्स ने प्रतिपादित किया है कि इतिहास घटनाओं

---

1. डा. माखनलाल शर्मा, हिन्दी आलोचना का इतिहास, पृ. 233.
2. अमृतराय, नयी समीक्षा, पृ. 2.

और व्यक्तियों का संग्रह मात्र नहीं अपितु वह समाज के भीतर चलनेवाली आर्थिक-सामाजिक वृत्तियों का सिलसिलेदार विकास है । अब तक का इतिहास समाज में चलनेवाले दो वर्गों- शोषित और शोषक की संघर्ष-गाथा है । यह वर्गभेद और संघर्ष आर्थिक संबंधों पर आधारित है । प्राचीन काल में आदिम साम्यवादी समाज में जब व्यक्ति केवल अपनी आवश्यकता के अनुकूल उत्पादन करने में समर्थ था तब शोषण के अभाव में वर्ग संघर्ष नहीं के बराबर था । उस समय जिस कला का विकास हुआ वह सच्ची कला रही । अमृतराय के साहित्य चिंतन पर मार्क्स के उक्त प्रतिपादन ने प्रभाव पड़ा है । उनकी मान्यता है कि साम्यवादी व्यवस्था में ही सच्ची कला का विकास संभव है । उन्होंने कला का सार्वजनिक उपयोग को भी स्वीकार किया है ।

साहित्य और जनजीवन पर चर्चा करते हुए अमृतराय ने देखा कि साहित्य और समाज का अनिवार्य रूप से संबंध है । साहित्यकार सामाजिक परिस्थिति से प्रभावित ज़रूर है । जिस समाज में वह रहता है उसकी परिस्थिति से वह प्रभावित रहता है और उसके साहित्य पर भी प्रभाव पड़ता है ।[1] इसके बाद उन्होंने साहित्यकार के दायित्व को रेखांकित किया । साहित्यकार को जनजीवन से संबंधित रहकर सच्चा ज्ञान प्राप्त करना चाहिए । "यदि कोई साहित्यकार विशाल जनता के जीवन का चित्रण करना चाहता है तो उसे संपूर्ण जीवन में जनता के जीवन के साथ अपने को एकाकार कर देना चाहिए । उसी दशा में साहित्यकार जनता के सामूहिक भावों को यथोचित परिपाक् अपने में कर सकेगा ।[2] उन्होंने कलावाद को

---

1. अमृतराय, नयी समीक्षा, पृ. 25.
2. वही, पृ. 15.

मानवतावाद की विरोधी माना । उन्होंने लिखा है -"प्रगतिशील क्रांतिकारी साहित्य से मानवतावादी साहित्य का संबंध जो चीज़ पडती है, वही कला के कलावाले विशुद्ध साहित्य से उसका संबंध तोडती भी है ।"[1] कला कला के लिए वाद कला अपने लिए वाद है । मानवतावादी साहित्य की दृष्टि मनुष्य के सुख दुःख पर है । उसके स्रष्टा वे हैं जिन्होंने अपने जीवन में अकथनीय कष्ट सहे हैं ।

उन्होंने साहित्य में यथार्थवादी दृष्टि के संबंध में स्पष्ट अभिमत ज़ाहिर किया "जो साहित्यकार जितनी अधिक संवेदनीयता के साथ जीवन को अपने साहित्य में उतारता है, वह उतना ही बडा साहित्यकार होता है और जीवन से हमारा अभिप्राय, कल्पनिक, स्वप्निल जीवन से नहीं प्रत्युत जीवन संघर्ष से है ।"[2] गोर्की के साहित्य की विशेषताओं का अवलोकन करते हुए उन्होंने लिखा है कि उनके साहित्य की शक्ति यथार्थवाद है । गोर्की का यथार्थवाद यथार्थ चित्रण पर सीमित नहीं है । वह पूरी मानवता की आज़ादी की आकांक्षा संजोए रहती है । उनके विचार क्रांतिकारी है जिनमें वर्तमान को बदलने की सक्षमता है ।[3] इस संदर्भ में समाजवादी यथार्थवाद की विशेषताओं पर भी अमृतराय ने सूचित किया है । उनकी दृष्टि में समाजवादी यथार्थवाद समाज के ऐतिहासिक विकास के क्रम के अनुकूल होता है और वह जीवन की वास्तविकताओं के साथ आगे बढता है ।

---

1. अमृतराय, नयी समीक्षा, पृ. 31.
2. वही, पृ. 38.
3. वही, पृ. 104-105.

प्रकाशचन्द्र गुप्त

प्रकाशचन्द्र गुप्त भी जगत के द्वन्द्ववाद को मानते थे । मार्क्सवादी दर्शन के आधार प्रकाशचन्द्र गुप्त ने लिखा - जगत और जीवन का नींवाधार नियम गति है । यह गति भौतिक और वैचारिक जगत् को संचालित रखती है । मनुष्य की विचारधारा उसकी भौतिक स्थिति की देन है । सत्य शिव और सुन्दर शाश्वत नहीं है । ये समय व स्थान सापेक्ष है । इसलिए भौतिक परिवर्तनों के साथ ही कला और दर्शन भी बदलते हैं । यानी गति ही जीवन का सनातन नियम है । वैचारिक दुनिया भौतिक दुनिया के अनुकूल ही बनती है । यानी मनुष्य के विचार भौतिक जगत् के अनुकूल ही होते हैं । भौतिक परिवेश के परिवर्तन के साथ विचारों में भी बदलाव आता है ।[1]

समाज - व्यवस्था उत्पादन-साधनों पर आधारित होती है । उत्पादन-साधनों के बदल जाने से समाज में क्रांति हो जाती है और समाज बदल जाता है । फिर जब धीरे-धीरे यह व्यवस्था जड होने लगती है तो फिर क्रांति होती है । विकास का यह क्रम चलता रहता है । साहित्य इस क्रम के साथ आगे बढता है ।

प्रकाशचन्द्र गुप्त साहित्य को जनजीवन के साथ जोडकर ही मूल्यांकन करते हैं । जनजीवन से निरपेक्ष साहित्य का कोई मूल्य नहीं है ।

---

1. प्रकाशचन्द्र गुप्त, हिन्दी साहित्य की जनवादी परंपरा, पृ. 138.

साहित्य का कोई स्थाई मापदण्ड नहीं है । जैसे समाज बदलता जाता, वैसे साहित्य भी बदलता है । उनका मानना है कि वर्ग विभाजित समाज में कलाकार स्वतंत्र नहीं है । इसलिए सच्ची कला की अपेक्षा असंभव सी है, जब वर्गभेद समाप्त होगा तभी सच्ची कला का सृजन होगा । साहित्य में सामाजिकता की भूमिका पर भी प्रकाशचन्द्र गुप्त ने अपना दृष्टिकोण ज़ाहिर किया है । साहित्य और कला के द्वारा कलाकार मनुष्य की सूक्ष्मतम अनुभूतियों और भावनाओं को व्यक्त करती है । इन अनुभूतियों में सामाजिकता का महत्वपूर्ण योग रहता है । साहित्य के समान संस्कृति पर भी प्रकाशचन्द्र गुप्त की दृष्टि माननीय है । उनके मत में साहित्य और संस्कृति का घनिष्ठ संबंध होता है । आपने लिखा है कि संस्कृति समाज से अलग शून्य में विचरण करनेवाली कोई दैवी वस्तु नहीं है ।[1] संस्कृति के समान ही वह अन्य दृष्टिकोणों को युग-विशेष और समाज-विशेष के संदर्भ में ही स्वीकार करना चाहते हैं । उनका यह दृष्टिकोण मार्क्सवाद के अनुकूल और सर्वथा समुचित है । आज के बुद्धिवादी वर्ग और पूँजीवादी व्यवस्था के संबंधों का यथास्थान, विवेचन करते हुए उन्होंने बार-बार यह घोषणा की है कि जब तक यह बुद्धिजीवि सर्वहारा को अपने साथ लेकर नवीन समाजवादी व्यवस्था के लिए क्रांति नहीं करेगा तब तक शोषक और शोषितों का यह अन्तर बना रहेगा ।

साहित्य की संप्रेषणीयता पर विचार करते हुए उन्होंने कहा -"हमें स्वीकार करना होगा कि कला एक सामाजिक प्रक्रिया है और

---

1. प्रकाशचन्द्र गुप्त, नया हिन्दी साहित्य, पृ. 212.

अपनी जनता के हृदय तक पहुँचकर उसे प्रभावित करना चाहता है । इस सिलसिले में यदि कोई रुकावटें पैदा होती है तो उन्हें हटाना ही होगा । और कला के सामाजीकरण पर हमें ध्यान केन्द्रित करना होगा ।[1] कला की अभिव्यक्ति के संबंध में उनका विचार अधिक स्पष्ट है । उन्होंने लिखा है - सूक्ष्म मानवीय अनुभूतियों और कोमल कल्पनाओं की अभिव्यक्ति कला में होती हैं । किन्तु इन अनुभूतियों और कोमल कल्पनाओं का संबंध आर्थिक आधार से अवश्य होता है ।[2] कला का आर्थिक आधार दरअसल वैसा होता है जैसे फूल का भूमि से होता है । याने फूल भूमि से उगता है । भूमि के अंश फूल में अवश्य होते हैं । यद्यपि फूल भूमि से अलग प्रतीत होता है ।[3]

साहित्य की सोद्देश्यता पर विचार करते हुए उन्होंने कहा है - कला का उद्देश्य मानव जीवन के प्रति गहरी अनुभूति को जगाना है ।[4] उन्होंने मानवीयता से समन्वित साहित्य को मान्यता दी । मानवीयता से लैस साहित्य वहीं है जो शोषित वर्ग का हित करता चलता है । उनका मानना है कि जो साहित्य मानवीयता से रिक्त है उसे द्वितीय कोटि के साहित्य के अंतर्गत रखना चाहिए । उन्होंने श्रेष्ठ साहित्य को मानवीयता के आधार पर मूल्यांकन किया -"श्रेष्ठ साहित्य में एक मानवीय गुण होता है जो शिक्षा-दीक्षा की सीमाओं को पार करके मानव मात्र के हृदय को स्पर्श करने का गुण रखता है । इस महान साहित्य से उतरकर

---

1. प्रकाशचन्द्र गुप्त, साहित्यधारा, पृ. 27.
2. डा. मक्खनलाल शर्मा, हिन्दी आलोचना का इतिहास, पृ. 250.
3. वही, पृ. 250.
4. वही, पृ. 251.

दूसरी श्रेणी का साहित्य वह होता है जो शासक वर्ग की भावनाओं और अनुभूतियों को व्यक्त करता है ।[1]

कला का, सामाजिक जीवन से अलग कोरे अस्तित्व नहीं याने साहित्य का स्रोत कोई अलौकिक या अतिमानवीय दुनिया नहीं है । जो कला सामाजिक जीवन से अलग परिवेश में बनता वह सामाजिक प्रगति का सहायक नहीं है ।

डा. नामवर सिंह

नामवर सिंह का अभिमत है कि साहित्य की शक्ति दरअसल जनता की शक्ति है । जो साहित्य जनता से जितनी घनिष्ठता के साथ संबंधित होता है वह उतना ही अधिक सुन्दर, मार्मिक व शक्तिशाली बन जाता है । लेखक की सर्जना शक्ति जनता से आती है । जनता के साथ उनका संबंध जितना घनिष्ठ होता है साहित्य का सौंदर्य और शक्ति उतना गंभीर होता जाता है ।[2] वे मानते हैं कि साहित्य को जनता का पक्षधर रहना चाहिए । यह पक्षधरता इसलिए अनिवार्य है कि समाज में स्वार्थी लोगों के बीच संघर्ष चलता है । समाज प्रमुखत: दो भागों में विभाजित है । एक वर्ग शोषित है तो दूसरा शोषक । मानवता शोषित के साथ जुडकर चलती है अत: मानवतावादी लेखक सदैव ही शोषित का पक्षपाती होता है ।

---

1. डा. मक्खनलाल शर्मा, हिन्दी आलोचना का इतिहास, पृ. 9-10.
2. डा. नामवर सिंह, आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, पृ. 96.

नामवर सिंह ने साहित्य के यथार्थवादी चित्रण पर भी अपना गंभीर विचार प्रस्तुत किया । जो रचना जितनी अधिक यथार्थवादी होगी वह उतनी ही महान और मानवीय सहानुभूति से युक्त होगी । रचना में सौन्दर्य वास्तविकता के अधिक -से-अधिक चित्रण से आती है । अपने विशेष दृष्टिकोण के बावजूद भी महान लेखक अपनी व्यापक मानवीय सहानुभूति के द्वारा यथार्थता के विविध आयामों का व्यापक परिचय प्राप्त कर लेते हैं और उनके चित्रण से उसकी रचना महान हो उठती है ।[1]

समाज और साहित्य के संबंध पर विचार करते हुए उन्होंने कहा कि जो साहित्य सामयिक परिस्थितियों का चित्रण जितना अधिक करता है उतना ही शाश्वत होता है । सामयिकता के माध्यम से ही शाश्वत साहित्य की रचना की जा सकती है । अपने समय की समस्याओं से अलग रहकर शाश्वत साहित्य की रचना नहीं कर सकता । वे उसी साहित्य को प्रगतिशील और यथार्थ मानते हैं । जो समाज के आगे बढानेवाले तत्वों को प्रश्रय दें और ह्रासशील तत्वों को नीचा दिखाएँ उन्हें साहित्य की कोई ऐसी कसौटी स्वीकृत नहीं है जो सामाजिकता को छोड़कर व्यक्ति-निष्ठ मान्यताओं को लेकर चलें ।[2]

नामवर सिंह ने साहित्य के भावपक्ष और शिल्पपक्ष के

---

1. डा. नामवर सिंह, आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, पृ. 98.
2. वही, पृ. 98.

समन्वय पर भी ज़ोर दिया । कला पक्ष और भाव पक्ष के समन्वित रूप में ही कथ्य सामाजिक उपयोगिता निहित है ।

डा. रांगेय राघव

डा. रांगेय राघव की मान्यता है कि मार्क्स का सिद्धांत देश काल के अनुसार परिवर्तित है । उन्होंने साहित्य को सौंदर्य का सृष्टा माना । साथ ही साथ उनकी यह मान्यता भी है कि साहित्य सामाजिक यथार्थ की वाचक अभिव्यक्ति है । तभी उसका लक्ष्य मानव कल्याण हो सकता है । उनके विचार में साहित्य के सामाजीकरण का आधार समाज और अर्थ है ।

उन्होंने साहित्य के उद्देश्य पर चर्चा करते हुए कहा कि साहित्य का उद्देश्य मानव जीवन के यथार्थ में छिपे आत्मा के सौंदर्य को खोजकर भाव और विचार के माध्यम से प्रस्तुत करना है । इसका मतलब यह निकलता है कि साहित्य यथार्थ, भाव और विचार के समन्वय से श्रेष्ठ बनता है । उन्होंने व्यक्ति केन्द्रित साहित्य का विरोध किया - मैं व्यक्ति की किसी भी उस स्वतंत्रता को नहीं मानता जो शोषण को प्रश्रय देती है ।[1] व्यक्ति केन्द्रित साहित्य दरअसल यथार्थ से पलायन करता है । वैयक्तिकता जनता के स्वातंत्र्य को आडम्बर के जाल में बाँधकर हर लेने की चेष्टा करती है ।

---

1. आलोचना, नवंबर 1955, पृ. 47.

उन्होंने साहित्य को जन सापेक्ष माना है । जनता ही साहित्य की कसौटी है । साहित्य मानव कल्याण में ही सार्थक बनता है ।

साहित्य और समाज को परस्पर संबंधित मानते हुए उन्होंने प्रगतिशील तत्वों के आधार पर यथार्थवादी मान्यताओं की स्थापना की है । उनका यथार्थवाद समाजवादी यथार्थवाद है जिसमें यथार्थ और आदर्श का समन्वय है ।[1] वे शोषण को प्रगतिशील साहित्य का विरोधी मानते हैं । उनकी प्रगतिशीलता का उद्देश्य केवल राजनीतिक नहीं है वरन् जन कल्याण तक पहुँचकर नये समाज का निर्माण है । "आज प्रगतिशील साहित्य उस आस्था को शीघ्रतम लाना चाहता है जो शोषण का दौर समाप्त करने में सहायक हो । क्रांति का मतलब मजदूरों का उत्थान मात्र नहीं है । सबसे पहले जनता में बौद्धिक परिवर्तन लाना है । आज मजदूर क्रांति का दौर नहीं है । साम्राज्यवाद विरोधी मोर्चे को स्थापित व उसे दृढ़ करने का वक्त है । प्रगतिशील साहित्य का तत्काल लक्ष्य भी यही होना चाहिए ।

प्रगतिशील साहित्य की चर्चा के संदर्भ में उन्होंने कहा कि उसका लक्ष्य जनकल्याण है और मनुष्य के जीवन का सर्वांगीण चित्रण करते हुए श्रेष्ठ कला का सृजन करना है । वह व्यंग्य और प्रहारों में समाप्त नहीं हो जाता । वह स्वयं एक नया निर्माण है ।[2] वे प्रगतिशील साहित्य में

---

1. डा. मक्खनलाल शर्मा, हिन्दी आलोचना का इतिहास, पृ. 226.
2. डा. रांगेय राघव, प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड, भूमिका पृ. {ग}

मानवीय भावनाएँ, युगीन यथार्थ, जन कल्याण के सत्य तथा सुन्दर अभिव्यक्ति को आवश्यक मानते हैं ।

साहित्य में यथार्थवाद के संबंध में उनकी मान्यता यह है कि यथार्थवाद साहित्य को सप्राण बनाता है । यथार्थवादी वर्णन साहित्य को वह शक्ति देता है जिससे वह मानवीय हृदय को आकृष्ट कर सके । जिस साहित्य में ये सब गुण नहीं होते वह न केवल अप्रगतिशील है, वरन् साहित्य ही नहीं है । यथार्थ के संबंध में उनका दृष्टिकोण है -"यथार्थ जीवन का वास्तविक चित्रण है जो समाज का वास्तविक चित्र उतार देता है । यथार्थ चित्रण का यही लक्ष्य होना चाहिए कि वह उन शक्तियों को बल पहुँचा दे जो समाज की विकृतियों को दूर करने में लगी है । संपत्ति के उत्पादन और वितरण में असमानता और शोषण ही समाज की मूल विकृति है । आज सारे संबंध धन-सापेक्ष है । यही मनुष्य समाज की सबसे बड़ी विकृति है । आज धन न तो व्यक्तिगत स्वतंत्रता देता है, न सामाजिक । प्रगतिशील साहित्य को वह राजनीतिक उद्देश्यों तक ले जाकर वहीं नहीं छोड़ देते वरन् उसके द्वारा जीवन की व्यापकता को उपलब्ध करने और वर्गवादी समाज से वर्गहीन समाज की ओर अग्रसर करनेवाला मानते हैं ।

लेखकों के दायित्व व प्रतिबद्धता के संदर्भ में भी उन्होंने आह्वान किया है -"आओ ! लेखकों ! मनुष्य के आत्मा के शिल्पियों ! अतीत के सारे लेखक हमारे ओर हैं और कह रहे हैं जितना हम मनुष्य के लिए अपने युग के बन्धनों में रहकर कर सकते थे, वह सब प्रगति हम तुम्हें देते हैं,

---

1. डा. रांगेय राघव, प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड, भूमिका पृ. (घ).

उसे लो और मनुष्य के अन्दर-बाहर को सुन्दरतम बनाने के लिए, अपने व्यक्तिगत संकुचित स्वार्थों को छोडकर एक हो जाओ । उससे युद्ध करो जो मनुष्य का शत्रु है । उन कारणों को मिटाओ जिन्होंने आज तक के मानवतावादी मेधावियों और बलिदानी वीरों के तपस्पूत स्वप्नों को व्यर्थ कर दिया है, जिन्होंने बार-बार रूप बदलकर संसार को दुख से भर दिया है ।[1] उन्होंने उन सभी बातों का खण्डन किया जो सामाजिकता के विरोध में आकर खडी होती है । उन्होंने यथार्थवादी साहित्य में वर्ग संघर्ष के अतिरिक्त उन प्रवृत्तियों के चित्रण पर भी बल दिया जो मानव को उसकी पूर्णता में दिखा सके । इसके साथ उन्होंने यथार्थवाद में भूत, वर्तमान और भविष्य के व्यापक संतुलित चित्रण भी अनिवार्य माना । उनके यथार्थवाद मानवतावाद, विश्व-कल्याण तथा उपयोगितावाद का समन्वित रूप है ।

उन्होंने मार्क्स और भारतीय चिंतन परंपरा को समन्वित करने का प्रयास भी किया । भारतवर्ष में मार्क्सवादी चिंतन जो स्वीकृत हुआ है वह बिलकुल रूस या अन्य किसी का अंधानुकरण नहीं है । क्योंकि उनकी सामाजिक और सांस्कृतिक परंपराएँ भारतवर्ष से भिन्न है । यह भी सत्य है कि मार्क्स का चिंतन और उस चिन्तन का निष्कर्ष अंतिम है । उनके विकास की अनंत संभावनाएँ है । याने रांगेय राघव ने मार्क्सवाद को कठमुल्लावाद न मानकर उसे एक वैज्ञानिक चिन्तन प्रणाली के रूप में स्वीकार किया है ।

---

1. डा. रामविलास शर्मा, प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड, पृ. समर्पण.

दूसरा अध्याय

आधुनिक हिन्दी कहानी की पृष्ठभूमि

स्वातंत्र्य पूर्व भारत का परिवेश

सन् 1930 ई. तक विश्व में प्रथम महायुद्ध और रूस की क्रांति जैसी युगांतकारी घटनाएँ घट चुकी थीं । रूस में ज़ारशाही के खिलाफ़ हुई हमसफल क्रांति का प्रभाव धीरे-धीरे विश्व भर में पड़ना शुरू हो गया था । भारत में आज़ादी का आन्दोलन ज़ोर पकड़ रहा था । सन् 1930 ई. तक राष्ट्रीय संस्था काँग्रेज़ के भीतर वामपंथी दल कायम हो चुका था । किसान मज़दूर आन्दोलन एक जुट होकर शक्तिशाली हो रहा था । पाँच-दस साल के बाद समाज और राजनीति में किसानों, मज़दूरों का महत्वपूर्ण स्थान का हो गया था । सविनय अवज्ञा आन्दोलन, लगानबन्दी आन्दोलन, किसान सभा की स्थापना आदि भारतीय समाज में सक्रिय परिवर्तन को सूचित कर रहे थे । इसके बाद विश्व-स्तर पर और भारतीय संदर्भ में हुई घटनाएँ जैसे बंगाल का अकाल, नौ सेना विद्रोह, हिन्दुस्तान पाकिस्तान विभाजन, मुस्लिम सांप्रदायिक दंगे, काँग्रेज़ के हाथों में सत्ता का आना आदि का परिवेश के बदलाव में महत्वपूर्ण भूमिका रही है । इन घटनाओं ने कमोबेश हमारी आर्थिक, सामाजिक और नैतिक स्थिति को प्रभावित किया । निम्न मध्यवर्ग की स्थिति पहले से भी अधिक खराब हुई और किसान मज़दूरों में भयंकर असंतोष फैला । उस समय भारत का परिवेश विदेशी शासन के अत्याचारों से प्रताड़ित केवल आम आदमी के करुणापूर्ण क्रन्दन से मुखरित भी था । विदेशियों का शोषण निर्बाध गति से बरकरार रही और लोगों के स्वतंत्र जीवन में बाधा डालता रहा । अंग्रेज़ों ने अपनी कूटनीति से सामंतों और ज़मीन्दारों को अपने वश में कर लिया और सत्ता सम्भालन सुगम भी बनाया । फलत: शोषण बहुस्तरीय हो गया । एक ओर ज़मीन्दारों और सामंतों का शोषण, दूसरी ओर इनके द्वारा अंग्रेज़ों का शोषण । साधारण जनता को सत्ता पर किसी

भी प्रकार की भागीदारी नहीं थी । वे पूर्णतः गुलामी व्यवस्था के कष्टों को झेलने के लिए अभिशप्त थी ।

भारत जैसे विस्तृत भू-प्रदेश में राष्ट्रीय एकता लाना बहुत कठिन काम था । भाषा, वर्ग, संस्कृति आदि बातों में यहाँ समानता का अभाव प्रत्यक्ष था और भिन्नता बहुतायत नज़र आती थी । भारतीयों की राष्ट्रीयता प्रदेश-विशेष व भाषा विशेषता से बंटी हुई थी । जनता को एकता के सूत्र में पिरोने की कोशिशें राष्ट्रीय स्तर पर अनेक हुई । लेकिन सफलता हासिल नहीं हुई । एक शक्तिशाली राष्ट्रीय आंदोलन का अभाव जनता को राष्ट्रीय स्वतंत्रता से वंचित रखा ।

इन्हीं युगीन परिस्थितियों के कारण वर्गचेतना और वर्ग-संघर्ष की भावना पैदा हुई और यही भावना देश की प्रगति की यथार्थ दृष्टि की प्रेरक तत्व बनी तथा साहित्य में प्रगतिवाद के विकास का आधार भी है ।[1]

स्वातंत्र्योत्तर भारत का परिवेश

दूसरा विश्वयुद्ध, युद्ध में भारत की भागीदारी, भारत छोड़ो आन्दोलन, भारत का विभाजन आदि स्वतंत्रतापूर्व भारत में प्रमुख घटनाएँ थी । इसके बाद जनता के बहुमत से कांग्रेसी नेताओं ने सत्ता संभाली ।

---

1. डा. नामवर सिंह, आधुनिक हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ, पृ. 92.

नेहरू युग का प्रारंभ हुआ । इसके साथ देश का योजनाबद्ध आर्थिक विकास भी शुरू हुआ । विभिन्न परियोजनाओं के माध्यम से कृषि, उद्योग तथा जन-समुदाय की सुख-समृद्धि की नवीन दिशाएँ अन्वेषित की गई । प्रथम आयोजन ने आर्थिक विकास की जिस परंपरा की नींव डाली, द्वितीय आयोजन ने उसे संवर्धित किया । इन दोनों ही परियोजनाओं का समाजार्थिक ढाँचे एवं उसकी पुनर्रचना करने में महत्वपूर्ण योगदान रहा । योजनाओं के द्वारा उत्पादन-वृद्धि, आर्थिक-सामाजिक एकीकरण एवं आर्थिक शक्ति के न्यायोचित वितरण की ओर यथासंभव प्रयास किये गये ।

समाजवाद की ओर अग्रसर, संवृद्धि और प्रगति का यह नियोजन यद्यपि बहुआयामी था तथापि व्यवहार रूप में देश के विकास एवं समृद्धि की दिशाएँ अपेक्षाकृत धीमी हो रहीं । इसके अनेक कारण थे । योजनाओं के अन्तर्गत कृषि, तीव्रगामी औद्योगीकरण, राष्ट्रीय आय-वृद्धि, रोज़गार, सामाजिक न्याय आदि प्रश्नों पर विशेष बल देने पर भी, इन समस्याओं का तात्कालिक उपचार न होने के कारण, देश की अर्थव्यवस्था में बहुत सुधार नहीं हो पाया । योजना के अनुसार औद्योगिक विस्तार तथा अन्य विभिन्न परियोजनाएँ जैसे सिंचाई, बिजली, बाँध इत्यादि दीर्घगामी योजनाएँ थी । लेकिन अब तक बेकारी की समस्या का कोई तात्कालिक समाधान नहीं था । योजनाओं में जन-सामान्य के सहयोग एवं उत्साह के अभाव के कारण परियोजना अपनी अपेक्षित गति बनाये रखने में सफल नहीं हो पाया । इसके अतिरिक्त मात्र विशाल उद्योगों पर ही दृष्टि केन्द्रित होने के कारण कतिपय अन्य क्षेत्रों की उपेक्षा होती गयी । साथ ही परियोजना में आत्मनिर्भरता की कमी के कारण विदेशी मुद्रा का ह्रास होता चला गया, देश के प्राकृतिक साधनों के

उचित उपयोग की ओर अधिक ध्यान न देने के कारण योजनाएँ अधिक खर्चीली और कम व्यावहारिक बन रहीं । स्वावलम्बन एवं पारस्परिक सहयोग द्वारा आर्थिक सुधार को कम महत्त्व देने के कारण, जनता सरकार का ही मुँह जोहती रही । इसके अतिरिक्त आवश्यक पदार्थों में कर-वृद्धि, मुद्रास्फीति, दोषपूर्ण व्यवस्था प्रणाली, उधार तथा अल्प बचती की न्यूनता, खर्च में वृद्धि, उपभोग सामग्री, विशेषत: खाद्यान्न का आयात तथा विदेशी विनिमय की कठिनाइयाँ आदि अनेक तत्व ऐसे थे जिस कारण प्रगति की गति मंद होती रही और महंगाई बढ़ती गयी, पूँजी के एक स्थान पर एकत्रीकरण होने के कारण धन का समान वितरण नहीं हो पाया । देश में कृषि तथा परम्परागत उद्योगों के ह्रास, जनसंख्या वृद्धि तथा आधुनिक उद्योगों की तीव्र स्थापना के अभाव में देश में दरिद्रता, बेकारी, पूँजी का अभाव, विनियोग के सुअवसरों की कमी तथा अर्थव्यवस्था में अवरोधन आदि दोषों का जन्म हुआ ।

राष्ट्रीय चरित्र के हनन के कारण रिश्वतखोरी, जमाखोरी आदि भ्रष्टाचारी मनोवृत्तियों के फलस्वरूप काला धन बढ़ता गया जिससे आर्थिक वैषम्य बढ़ा और उत्पादन कम हुआ । परिणामत: उत्पादक और उपभोक्ता दोनों ही को विभिन्न कठिनाइयों का सामना करना पड़ा । देश की पूँजी एक विशिष्ट वर्ग के हाथ में केन्द्रित होती चली गयी । पूँजीपति अधिक सम्पन्न होते चले गये और जन-सामान्य में निर्धनता बढ़ती गयी । वस्तुत: भारतीय अर्थव्यवस्था पूँजीवाद और समाजवाद की वह मिश्रित व्यवस्था है जिसमें निजी क्षेत्र और सार्वजनिक क्षेत्र दोनों ही के सहयोग द्वारा आर्थिक नियोजन का प्रयास किया गया था समाजवाद का नारा होते हुए भी सत्ता

की बागडोर अप्रत्यक्ष रूप से पूँजीपतियों के हाथ में ही थी जिसके कारण देश की अपेक्षाकृत प्रगति पिछड़ती गयी । पूँजीवाद पर समाश्रित इस अर्थ नियोजना प्रणाली से समस्या जटिलतर होती गयी । निजी क्षेत्र पूँजीपतियों के स्वामित्व के कारण आर्थिक समानता और अधिकारों से दूर रहे । परिणामतः वर्ग भेद बढ़ता गया और सरकारी क्षेत्रों में निष्ठा एवं ईमानदारी के अभाव के कारण परियोजना-सूत्र बिखरते रहे तथा निर्धारित लक्ष्य पूरे नहीं हो पाये । इस प्रकार साम्राज्यवाद के उलझते प्रश्नों ने आर्थिक संकट और गहरा दिया । इसके साथ नवीन वैज्ञानिक परिवेश से प्रभावित भौतिकवादी मूल्य दृष्टि के कारण अर्थ जीवन का लक्ष्य मूल्य बन गया । अर्थ की महत्ता ने देश में परंपरागत पूँजीपतियों के वर्ग के साथ ही एक और नवकुबेर वर्ग को जन्म दिया जो व्यवहार में देश के नेतृत्व का कर्णधार था । इस नवधनाढ्य, सफेदपोश वर्ग में, अत्यधिक अर्थ लिप्सा जन्य भ्रष्ट मूल्य प्रवृत्तियों के कारण नियोजन का लाभांश जनता तक नहीं पहुँच पाया । बाहर से सम्पन्नता के अभाव में जीता हुआ यह वर्ग रातोंरात पूँजी एकत्र करने में जुट गया । लाभ- लोभ में डूबे इस अफ़सरशाही नव-धनाढ्य वर्ग के प्रभुत्व से देश की जीर्ण-शीर्ण अर्थव्यवस्था और भी जर्जर हो गयी । वर्ग संघर्ष, बेकारी, भूख, गरीबी और शोषण की बहुआयामी समस्यायें उभरकर सामने आने लगीं । "विरोधाभासों का कुहासा देश पर फैलता गया । राष्ट्रीय आय बढ़ी, पर आम आमदनी की दशा में विशेष अंतर नहीं आया । प्रगति की दिशा में दौड़ते हुए भी देश पिछड़ता गया । एक ओर शहर दर शहर उगते गये, नये उद्योग और ऊँचे ऊँचे भवन और इमारतें बनती गयी और दूसरी ओर गन्दी बस्तियों, झोंपड़ियों, खाना-बदोशों और बेकारों की पंक्तियाँ दीर्घतर होती गयीं । जनतंत्र होते हुए भी "तन्त्र" विशिष्ट लोगों के हाथों में ही बना रहा और जन उसका दास बनता गया, समस्त मूल्य दृष्टियाँ अर्थ

केन्द्रित हो गयी । अर्थ की चकाचौंध में स्वार्थपरक, आत्महितरत नकली चेहरे उभरते गये और निष्ठा, परित्याग एवं राष्ट्रहित आदि मूल्यगत मर्यादाएँ नेपथ्य में जा गिरी । चहुँ ओर विघटनकारी तत्व प्रबल हो गये एवं जीवन व्यवस्था में विशृंखलता व्यापित हो गयी, महंगाई और बेकारी के कारण गरीबी बढ़ती गयी । सर्वत्र अराजकता और अशांति फैलने लगी, प्रत्येक व्यक्ति का जीवन अर्थ के संघर्ष में जूझता गया । उद्योगपति, व्यापारी, विद्यार्थी, नौकरीपेशा वर्ग, मज़दूर सभी अपने-अपने स्तर पर आर्थिक भारवहन करते रहे और अपनी-अपनी दृष्टि से अर्थतंत्र की आलोचना करते रहे, असंतोष अभाव और पीड़ा का स्वर सर्वत्र गहराता गया । साधारण जन पूँजीपतियों के शिकंजे में घुटता रहा, अपमान, दमन और यातना का बोझ अपने कंधों पर लादे वह अपनी जीवन-यात्रा में भटकता रहा ।[1]

वास्तव में अंग्रेज़ों से जो आज़ादी हमें हासिल हुई, वह सिर्फ राजनैतिक आज़ादी थी । आर्थिक आज़ादी हासिल नहीं हुई थी । आर्थिक आज़ादी अब भी बहुत दूर है । दूसरे विश्वयुद्ध के बाद विश्व में दो ही ताकतें प्रमुख रूप से सामने आयीं - एक समाजवादी ताकत और दूसरा साम्राज्यवादी ताकत । इससे शीतयुद्ध का दौर प्रारंभ हुआ । साम्राज्यवादी शक्ति का नेता अमेरिका था, जिसने नव-स्वतंत्र और स्वतंत्र होने के लिए संघर्षरत देशों में अपना राजनैतिक प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयास किया और वहाँ जो जन-क्रांति का माहौल रूपायित हो रहा था उसको खत्म करने की योजनाएँ शुरू कर दी । दुनिया भर में तानाशाही, साम्राज्यवादी व पूँजीवादी ताकतों का अविशुद्ध गठजोड सक्रिय हुए । इन्होंने भाषा, संस्कृति, धर्म जैसे

---

1. डा. अरुणा गुप्ता, छठे दशक की हिन्दी कहानी में जीवन मूल्य, 1989, पृ. 238.

समाज के किसी भी आधारभूत स्तंभों के ज़रिये अंधविश्वास, भ्रष्टाचार और अलगाववाद को फैलाने का प्रयास ज़ारी रखा । इन साम्राज्यवादी ताकतों ने पैसे व हथियार के बल पर किसी भी देश के सांस्कृतिक सामाजिक, धार्मिक व साहित्यिक क्षेत्र में जान बूझकर घुसपैठ किया और जन शक्ति को पर्याप्त क्षति पहुँचाई । भारत भी इसका शिकार बना । फलस्वरूप देश भर में जनजागरण के ऊपर फासिस्ट शक्ति सक्रिय रही । कम्युनिस्ट पार्टियों की आपसी झगड़ों ने जनवादी आन्दोलन को कमज़ोर बनाया । यह था स्वतंत्रता के बाद भारत का माहौल ।

प्रगतिवादी कहानी का उद्‌भव और विकास

हिन्दी कहानी साहित्य में प्रगतिवाद का उदय प्रेमचन्द से माना जाता है । प्रेमचन्द ने अपनी सर्जनात्मकता के अंतिम दौर में कहानी को एक नयी दिशा प्रदान की । प्रगतिशील लेखक संघ के प्रथम अधिवेशन में अध्यक्षीय भाषण देते हुए उन्होंने ऐलान किया था - "हमें एक ऐसे नए संघटन को सर्वांगपूर्ण बनाना है, जहाँ समानता केवल नैतिक बंधनों पर आश्रित न रहकर अधिक ठोस रूप प्राप्त कर लें ।[1] स्पष्टतः प्रेमचन्द का विचार समाजवादी समाज की ओर था याने प्रगतिवादी दिशा की ओर थी । इसका स्पष्ट सबूत हैं उनकी अंतिम दिनों की कहानियाँ -"कफ़न और पूस की रात" । "कफ़न" कहानी का घीसू, माधव दोनों को कामचोर के रूप में चित्रित किया है । उन्हें अमानवीय बनाया गया है । उनका कामचोर और अमानवीय होने का कारण सामन्ती पूँजीवादी व्यवस्था का निर्मम शोषण है । जिस व्यवस्था में दिन भर काम करने के बाद

---

1. डा. वेद्‌प्रकाश अमिताभ, हिन्दी कहानी एक अंतर्यात्रा, पृ. 21.

भी मज़दूरों को भर-पेट खाने तक की मंज़ूरी नहीं मिलती, उस व्यवस्था में काम न करना ही बेहतर है । अत: कामचोर रहकर दोनों अपनी प्रतिक्रिया कारगर ढंग से व्यक्त करते हैं । स्पष्टत: उनकी प्रतिक्रिया क्रूर व्यवस्था के प्रति है । "पूस की रात" में प्रेमचन्द ने सामाजिक अन्तर्विरोधों का गहरा चित्रण किया है । एक ओर जाडे से बचने के लिए धरती पुत्र किसान छटपटाता रहता है । दूसरी ओर शोषक अमीर मोटे-मोटे कंबल पहनकर सुख से चैन की नींद सो रहे हैं। "ठाकुर का कुआँ" में रात के अन्धेरे में ही सही पानी को छूकर हरिजन युवती सामंती व्यवस्था के प्रति विद्रोह करती है । इस तरह यद्यपि इन कहानियों में शोषण के विरुद्ध संघर्ष का आह्वान प्रत्यक्ष नहीं है फिर भी सामंती पूँजीपति व्यवस्था के खिलाफ चोट अवश्य करती है ।

प्रेमचन्द के बाद जो कहानीकार आये उन्होंने प्रेमचन्द द्वारा निर्धारित प्रगति चेतना को आगे बढाने की कोशिश की थी । यह चेतना यशपाल में तीव्रतर है और आठवें और नवें दशक में भी इसका स्पष्ट दस्तावेज़ देख सकते हैं । प्रेमचन्द के बाद प्रगतिवादी कहानीकारों की चार पीढियाँ हुई है । पहली पीढि में यशपाल, भीष्म साहनी, अमृतराय आदि आते हैं । दूसरी पीढि में अमरकांत, शिवप्रसाद सिंह, शेखर जोशी हैं । तीसरी पीढि में काशीनाथ सिंह, सतीश जमाली, मधुकर सिंह और चौथी पीढि में जनवादी कहानीकार सम्मिलित है ।

प्रेमचन्द के बाद आनेवाली पहली पीढि की कहानियों की यह प्रमुख प्रवृत्ति रही है कि समाजवाद के बाधक तत्वों को खत्म करने के लिए

एक कारगर दार्शनिक परिहार को निर्धारित करें । इसके लिए वे प्रतिक्रियावादी और प्रगतिशील पात्रों के बीच संघर्ष की भूमिका तैयार करते हैं । उन्होंने कहानियों के माध्यम से सामाजिक वैषम्य पर प्रबल प्रहार करने की कोशिश भी की । लेखकों ने कहानियों को इस रूप में प्रस्तुत किया जिससे समाज की वास्तविक स्थिति से अवगत हो जायें, इस जघन्य वास्तविकता और वर्ग-विषमता की जड़ें उखाड़ने का प्रयत्न करें । यशपाल की कहानी "भवानी माता की जय" में वर्ग संघर्ष को चित्रित किया गया है । मज़दूरों के प्रति सर्वहारा वर्ग का पक्षधर रहते हुए लेखक ने पूरी तरह सहानुभूति अभिव्यक्त की है । परदा कहानी में भी शोषितों के प्रति सहानुभूति प्रकट है ।

इस दौर की कहानियों में लेखकीय सहानुभूति तो अभिव्यक्त हुई हैं, लेकिन इस सहानुभूति को, पात्रों के माध्यम से अभिव्यक्त कराने में कहानीकार असफल रहे हैं । इसलिए उनके विचार सतही और ऊपर से थोपे हुए लगते हैं, कहानी से गुँथे हुए नहीं । फिर भी इनकी कहानियों का मूल स्वर प्रगतिवादी है जो मूल्य विघटन और सामाजिक असमानता का साक्षात्कार कराता है । इस प्रकार इन कहानीकारों ने समाजवादी रूझान को स्पष्ट किया है । अमृतराय की कहानी "कस्बे का एक दिन", "गीली मिट्टी", "मंगलाचरण" आदि उदाहरण हैं । इनमें समाज में होनेवाले शोषण मानवीय संवेदना का अभाव, भ्रष्टाचार से गरीबों की गिरी गयी अवस्था आदि प्रस्तुत है । इसके साथ उन्होंने शोषण की प्रकृति का उद्घाटन करते चलते हैं और उसका विरोध भी करते हैं । उनका विश्वास है कि विरोध के

---

1. किरणबाला, समकालीन हिन्दी कहानी और समाजवादी चेतना, पृ. 27.

पीछे एक बहुत बड़ी शक्ति का समाहरण करना है । वर्ग संघर्ष के द्वारा समाजवादी व्यवस्था को लाने का समर्थन किया है । इस प्रकार इस दौर के कहानीकारों में वामपंथी चेतना बेहद मज़बूत है ।

दूसरे दौर की कहानियों में समाज में फैला हुआ व्यापक अंतर्विरोधों की सशक्त अभिव्यक्ति मिलती है । मानव के वास्तविक संकट का मूल रूप व्यवस्थाजन्य है । आदमी अपनी बनाई जीवन प्रणाली का शिकार है । वह आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था जब तक पूरी तरह नहीं परिवर्तित होती तब तक वह एक शोषण रहित मानवीय जीवन व्यवस्था और सही सामाजिक राजनैतिक व्यवस्था नहीं अपनाता । मनुष्य स्वयं मनुष्य का खून पीने के लिए विवश है । अतएव मनुष्य की सामाजिक राजनैतिक दासता, अलगाव और अत्याचार से मुक्ति के लिए भी सामाजिक ढाँचे को बदलना ज़रूरी है । मुक्तिबोध के अनुसार भारत में आज बरकरार वातावरण और व्यवस्था भ्रामकी है । उसे बदले बिना मानव व्यक्तित्व का विकास संभव नहीं है ।[1] इस दौर के कहानीकारों की कहानियों में एक अन्य प्रमुख बात देखने को यह है कि कहानियों में प्रगतिचेतना पूरी गहनता के साथ समाहित हुई है । ये कहानियाँ पढ़कर पाठक अपने दुःख का गहरा साक्षात्कार नहीं करता अपितु उनके कारणों का ज्ञान प्राप्त करता है और बरकरार व्यवस्था के बदले एक विकल्प भी पाता है । "प्रेमचंद के बाद परिवर्तित संदर्भों को मानवीय संवेदनशीलता के साथ उद्घाटित करने का काम अमरकांत ने ही बड़े ही कलात्मक ढंग से किया है ।"[2] इस दौर के कहानीकारों स्वातंत्र्योत्तर

---

1. डा. विश्वंभरनाथ उपाध्याय, समकालीन सिद्धांत और साहित्य, पृ. 194.
2. किरणबाला, समकालीन हिन्दी कहानी में समाजवादी चेतना, पृ. 35.

भारतीय समाज की उन तस्वीरों को प्रतिबिम्बित करते हैं जहाँ सामाजिक विषमता के ज़हर ने आदमी को आदमी का दुश्मन बना दिया है और आदमी दया, उदारता, परोपकार, ममता, क्षमा का मुखौटा लगाकर मानवता की हत्या करने में मशगूल है । पूँजीवादी व्यवस्था मानवीय मूल्यों को ध्वस्त कर उसे ढोंगी बनाती जा रही है । इस दौर के कहानीकारों ने ग्रामीण जीवन के अनुभवों के विविध आयामों को उद्घाटित कर आज़ादी के बाद भारतीय गाँवों के परिवर्तन की वास्तविकता रूपायित की । उनकी कहानियों में समाजवादी भावना प्रतिफलित हुई है । उनकी विचारधारा का मूलाधार मार्क्सवाद है, पर पहले दौर के कहानीकारों की भाँति स्थूल न होकर अत्यंत सूक्ष्म है और उद्देश्य प्रचार न होकर भारतीय जीवन पद्धतियों से उसका सामंजस्य स्थापित कर प्रगतिशील दृष्टिकोण की स्थापना है । वर्ग वैषम्य, शोषण, असमानता, रूढ़ियों एवं अंधविश्वासों पर उन्होंने अपनी कहानियों में कठोर प्रहार किए हैं और उनकी अनुपयोगिता सिद्ध करते हुए नवीन परिवर्तनों की ओर आकृष्ट करने की चेष्टा की है ।

तीसरे दौर के कहानीकारों ने अपनी कहानियों के माध्यम से सामान्य जनजीवन की ज़िन्दगी के तमाम संकटों और इन संकटों के लिए जिम्मेदार तत्वों की खोज की है । व्यवस्था के प्रति इन्होंने अपना आक्रोश ज़ाहिर किया है । काशीनाथ सिंह की कहानियों के बारे में प्रह्लाद अग्रवाल का वक्तव्य है कि "उस व्यवस्था के प्रति जो आज आदमी का दुश्मन बना रही हैं, वह अर्थव्यवस्था जो सैकड़ों, हज़ारों का हक बटोर कर एक के पास ले जाती है, वह शिक्षा पद्धति जो अपने-आप में एक मज़ाक है - इन सब के प्रति

काशीनाथ में गहरा आक्रोश है और वह यहाँ किसी प्रकार का समझौता न करने का दृढ़ संकल्प नज़र आता है । काशीनाथ सिंह की अधिकांश कहानियाँ लगातार लड़ाई ज़ारी रखनेवाले आदमी के अन्तर्द्वन्द्व की कहानियाँ हैं और उसकी लड़ाई खुद उसके अपने खिलाफ़ भी है, क्योंकि कहीं-न-कहीं वह खुद भी उस व्यवस्था से जुड़ा हुआ है ।[1] इस प्रकार हिन्दी कहानियों में समाजवादी चेतना का अभ्युदय प्रेमचन्द से होता है और इसका विकास नवम दशक तक आते-आते चार चरणों में पूरा होता है । पहला चरण प्रेमचन्दोत्तर कथाकारों का, दूसरा स्वातंत्र्योत्तर कथाकारों का, तीसरा साठोत्तर कथाकारों का और चौथा आठवें नवें दशक के कथाकारों का ही है । इन चारों चरणों से गुज़रती हुई प्रगतिवादी चेतना प्रौढावस्था में पहुँच चुकी है ।

यथार्थवाद की ओर झुकाव

यथार्थवाद पर आधारित प्रेमचन्द की रचनाएँ समाजवाद से प्रेरित थीं । प्रेमचन्द के बाद कहानी साहित्य प्रमुखतः दो धाराओं में विभाजित होकर बही । एक ओर यशपाल के नेतृत्व की यथार्थवादी धारा, दूसरी ओर अज्ञेय और जैनेन्द्र की गैर यथार्थवादी धारा जिनके लिए व्यक्ति का आंतरिक यथार्थ ही प्रमुख था । उनके लिए समाज के प्रति प्रतिबद्धता व्यक्ति के बाद ही आती है । स्वतंत्रता के बाद कहानी साहित्य अधिकाधिक सामाजिकता से अलग होता नज़र आता है । नयी कहानी निराश मनुष्य की बेबसी को अभिव्यक्त करने में ज़्यादा तत्पर रही थी । लेकिन साठोत्तरी कहानी सामाजिक यथार्थ की ओर उन्मुख होने लगी । साठोत्तरी कहानी

---

1. प्रह्लाद अग्रवाल, हिन्दी कहानी सातवाँ दशक, पृ. 48.

में वामपंथी चेतना उभरकर आने लगी । वामपंथी चेतना का संबंध सीधे मार्क्सवाद से होता है । वर्गचेतना से संयुक्त कहानी की सबसे प्रमुख एवं महत्वपूर्ण उपलब्धि यह है कि उसने सामाजिक यथार्थ की प्रतिष्ठा की । प्रगतिवादी कहानी साहित्य के आविर्भाव तक हिन्दी कहानी वास्तविक जगत में कम विचरण करती थी । वह ज़्यादतर कल्पना और आदर्श के लोक में स्वच्छन्द विहार करती रही थी । मार्क्सवादी जीवन दर्शन से प्रभावित होकर कहानी धीरे-धीरे जीवन के निकट आने लगी और यथार्थ के धरातल पर खड़ी हो गई । यथार्थ के विभिन्न रूपों और आयामों को कहानीकारों ने बेबाक ढंग से प्रस्तुत किया । यह प्रवृत्ति हिन्दी साहित्य में अद्वितीयता लायी । यथार्थ को उसके अपने व्यापक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करना और यथार्थ के प्रति तटस्थ दृष्टिकोण रखना कहानीकारों का लक्ष्य था । ये कहानीकार यथार्थ को समाज की सतह पर उतरती समस्याओं के रूप में प्रस्तुत करना नहीं चाहते थे । वे सामाजिक सत्य से जूझते हुए समस्या के अतल में गुज़रते हुए प्रगतिशील रहना चाहते थे । उनकी सृजन प्रक्रिया का लक्ष्य यह था कि समाज की भीषण शक्तियों का नकाब उतारकर प्रगतिशील शक्तियों का समर्थन करें । इस प्रकार प्रेमचन्दोत्तर कहानीकार मार्क्सवादी दर्शन को इसलिए स्वीकार किया था कि समूची मानव जाति के लिए चुनौती बनी शक्ति को परास्त करने के लिए । उन्होंने यथार्थ से सम्बद्ध समस्यामूलक दृष्टि को अपनाया भी । समाज के संदर्भ में सच्चाई के चित्रण में सजग कहानीकार यथार्थ का भी गहरा चित्रण करते हैं । वामपंथी कहानीकार सामाजिक अंतर्विरोधों के चित्रण के संदर्भ में कहानी को सबल माध्यम बनाते हैं । समांतर कहानी, जनवादी कहानी और सक्रिय कहानी में यथार्थवाद की ओर झुकाव स्पष्ट है । वामपंथी कहानीकारों ने सामाजिक शक्ति के संघर्ष और आस्था पर बल देने के

लिए सामाजिक विसंगतियों का पर्दाफाश किया है । इस प्रसंग में इन्होंने सामन्त, ज़मीन्दार, पूँजीपति आदि शोषक वर्गों की कुटिल शोषण-नीतियों का तथा उनसे प्रताडित भारतीय ग्रामीण जनता का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया । इन कहानीकारों ने शोषण के मूल कारण की खोज करते हुए यह ढूँढ निकाला कि जनता का अज्ञान और संगठन का अभाव ही शोषण का कारण है । उन्होंने शोषित वर्ग के सामने यथार्थ को रखा और उनसे संगठित होने और संघर्ष करने का आह्वान भी दिया ।

पहले सामाजिक अन्तर्विरोधों से लैस कहानियाँ ही यथार्थवाद से प्रभावित हुई थी । बाद में कहानियाँ राजनीतिक वातावरण के यथार्थ का चित्रण करती हुई जीवन के विविध पक्षों के सत्य की अभिव्यक्ति करने में सफल हुई ।

प्रेमचन्द और यशपाल की सर्वकालीन विशेषताएँ

प्रगति चेतना का उपक्रम प्रेमचन्द के अंतिम दौर की कहानी से मानना उचित है । उन्होंने ही यथार्थवाद की नींव डाली थी । उनका प्रभाव बाद के हरेक युग में बरकरार रहा । प्रेमचन्द के बाद उनके पथ को प्रशस्त करने के लिए यशपाल आये । प्रेमचन्द से निर्धारित पथ को उन्होंने अपनी राह स्वीकार की थी । इन दो कहानीकारों के बाद जो कहानीकार प्रगतिवाद से सम्बद्ध रहे उनमें इनका प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई पडता है । यद्यपि प्रेमचंद मार्क्सवादी नहीं थे फिर भी उनका मार्क्सवाद की ओर झुकाव

ज़रूर था । इसका स्पष्ट दस्तावेज़ है उनका प्रगतिशील लेखक संघ के अध्यक्ष पद को अलंकृत करना । उस पद में विराजमान होकर उन्होंने जो भाषण दिया उसमें उनकी मार्क्सवादी दृष्टि संकेतित है ।[1] यशपाल स्पष्टतः मार्क्सवादी रचनाकार थे । उन्होंने साहित्य के माध्यम से मार्क्सवाद का प्रचार करना चाहा था । उनकी मुख्य कहानियों में इसका स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध है ।[2] यशपाल के बाद अमरकांत, मुक्तिबोध, काशीनाथ सिंह और जनवादी कहानीकार की ज़्यादतर कहानियों में प्रेमचन्द और यशपाल का प्रभाव पड़ा है । समांतर कहानीकारों ने प्रेमचन्द की विकासशील परंपरा को नया आयाम दिया था । इसके संबंध में डा. पुष्पपाल सिंह का कथन है -"आज की कहानी के परंपरा-सूत्र सीधे प्रेमचन्द के विकसित कथाकार रूप से जुड़ते हैं ।"[3] प्रेमचंद के युग में जो सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियाँ बरकरार थीं उनसे एक अलग स्थिति आज बनी रहती है । शोषण की नीति ने एक अलग तरीका अपनाया । समकालीन कहानी और विशेषतः सत्तर के बाद की कहानी सामान्य मनुष्य की आर्थिक समस्याओं से बड़ी गहराई से जुड़ गयी है । अर्थतंत्र की मार से ग्रस्त सामान्य आदमी जीने के लिए जिस बदतर स्थिति को सहता है वह आज कहानी साहित्य प्रतिपादित करता है । प्रेमचन्द ने सबसे पहले आम जीवन के बदत्तर स्थिति को अंकित किया था । उन्होंने अपनी कहानियों में महाजनी सभ्यता से ग्रसित पात्रों को प्रस्तुत किया था ।[4] आज सामान्य मानव के दुख-दर्द को वाणी देती हिन्दी कहानी

---

1. लक्ष्मणदत्त गौतम, आधुनिक हिन्दी कहानी साहित्य में प्रगतिचेतना, पृ. 520.
2. वही - पृ. 177.
3. डा. पुष्पपाल सिंह, समकालीन कहानी : सोच और समझ, पृ. 35.
4. वही - पृ. 36.

परिवेश के प्रति अतिशय जागरूकता है । इस प्रकार आज तक की कहानी प्रेमचन्द के साथ रिश्ते को गहराती आयी है । प्रेमचन्द ने कहानी को इस रूप में "मानवेतर" से "मानवीय" बनाया । उसे "था" की दुनिया से निकालकर "है" की दुनिया में खड़ा कर यथार्थ की चुनौतियों को स्वीकार करने, यथार्थ को निसंग, बेलैस सच्चाई से चित्रित करने के लिए प्रतिबद्ध किया ।[1] प्रेमचन्द के द्वारा आविष्कृत कहानी के नये आयाम का प्रभाव आज तक कहानी साहित्य में स्पष्टतः बरकरार है । कहानी से जुड़े पूर्वाग्रहों को नकारने का कार्य प्रेमचन्द से ही शुरू हुआ था । प्रेमचन्द ने कहानी के नायक संबंधी पूर्वाग्रह का उल्लंघन किया था । प्रेमचन्द तक आम आदमी की कहानी कहानी नहीं थी । याने उनके जीवन में कहानी नहीं थी । राजाओं, सामंतों और ज़मीन्दारों के जीवन में कहानी थी । प्रेमचन्द ने इस पूर्वधारणा का उल्लंघन किया और घीसू, माधव और हल्कू के जीवन में कहानी की खोज की और कहानी साहित्य के अनमोल मोती के रूप में आज भी "कफ़न" और "पूस की रात" प्रतिष्ठित है । आम आदमी के जीवन में कहानी खोजने की प्रवृत्ति आज भी जारी है ।

समकालीन कहानी ने आम आदमी की आर्थिक समस्याओं को गहराई से चित्रण किया है । व्यवस्था के अर्थ-तंत्र से पीड़ित आम आदमी जीवन बिताने के लिए जिन कठिनाइयों को झेलता है, उनका गहन चित्रण हुआ है । सामान्य मनुष्य के आर्थिक व सामाजिक समस्याओं पर कहानी रचने की प्रवृत्ति का उद्घाटन प्रेमचन्द ने किया था । उनके महाजनी सभ्यता से पीड़ित

---

1. डा. पुष्पपाल सिंह, समकालीन कहानी सोच और समझ, पृ. 30.

अपने को वामपंथी सोच या जनवादी चेतना से सम्बद्ध करने में गौरव अनुभव करती है । जन-सामान्य का पक्षधर अपनी सोच में "वाम" हो ही जाता है । अभी हाल ही में प्रकाशित "हृदयेश" के कहानी-संग्रह अंधेरी गली का रास्ता की "प्रसंगवश" शीर्षक भूमिका में ये शब्द द्रष्टव्य है - "आज एक श्रेष्ठ और सफल कहानी वाम बनने के लिए बाध्य है ।"[1] प्रेमचन्द की कहानियों में जनसाधारण की सहज इच्छा-आकांक्षाओं को व्यापक आदर भाव सुस्थापित हुआ है । इस दृष्टि से प्रेमचंद वामपंथी सोच या जनवादी चेतना के प्रथम हिन्दी कहानीकार हैं ।[2]

प्रेमचन्द ने ही सबसे पहले हिन्दी कहानी को मिट्टी के पुत्रों के जीवन से सम्बद्ध कर दिया । इसी कारण से उनकी कहानियों में कालजयी दृष्टि प्राप्त है । इस दृष्टि ने कहानी को आगे की यात्रा को सुगम बनाया और उनका प्रभाव कालजयी हो गया ।

बीसवीं शताब्दी के विश्वसाहित्य पर विचार करते समय तीन महान हैसियत हमारे सामने उभर आते हैं - रूस के मैक्सिम गोर्की, चीन के लू-शुन और भारत के प्रेमचन्द ।[3] प्रेमचन्द ने ही सबसे पहले पूर्ववर्ती परंपरा का विरोध किया और उनसे नयी प्रस्थान भूमि मिली । प्रेमचन्द दर असल हिन्दी कहानी के शलाका पुरुष है । यदि हिन्दी कहानी को बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दो काल खण्डों में रखकर देखा जाये तो बीसवीं शती के

---

1. हृदयेश, "अंधेरी गली का रास्ता" - पृ. 5.
2. डा. पुष्पपाल सिंह, समकालीन कहानी सोच और समझ, पृ. 34.
3. वही - पृ. 28.

पूर्वार्द्ध के वे जिस प्रकार निर्विवाद रूप से शलाका पुरुष और अन्यतम व्यक्तित्व हैं, बीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में हिन्दी कहानी के प्रेमचन्द और प्रेमचन्द-युग से बहुत आगे बढ़ जाने पर भी कोई ऐसा कृति-व्यक्तित्व और शलाका पुरुष नहीं है जिसे निर्विवाद ढंग से इस काल-खण्ड का अन्यतम व्यक्तित्व घोषित किया जा सके । इसलिए वे अपने कालखण्ड के ही नहीं अपितु बीसवीं शती के संपूर्ण हिन्दी कथा साहित्य के शलाका पुरुष ठहरते हैं । यह उन्हीं का महिमावान व्यक्तित्व है, जिसे केन्द्र में रखकर समस्त हिन्दी कथा-साहित्य का मूल्यांकन किया जा सकता है, किया भी जा रहा है - प्रेमचन्द पूर्व युग, प्रेमचंद युग, प्रेमचन्दोत्तर युग ।

प्रेमचन्द ने अपनी कालजयी कहानियाँ "पूस की रात", "कफ़न" और ठाकुर का कुआँ के माध्यम से जो रहम गरीबों के प्रति दिखाया है, व्यवस्था की कुरीतियों से उत्पन्न वर्ग भावना का जो प्रोत्साहन दिया और यथार्थ के दर्शन के सहारे सामाजिक विसंगतियों पर जो तीखा व्यंग्य प्रहार किया, वे प्रेमचन्द के बाद की कहानियों की दिशाओं की खोज निकालने में अभीसित हो गये ।

हिन्दी कहानी को तिलस्मी व ऐय्यारी दुनिया से यथार्थ की दुनिया में ले आने का कार्य प्रेमचंद ने ही सबसे पहले किया । याने उन्होंने कहानी को परिवेश से सम्बद्ध कर दिया । परिवेश के प्रति यह खुलापन की प्रवृत्ति समकालीन कहानियों को भी प्रभावित किया है । समकालीन कहानी या कहें सन् 1965 ई. के बाद की कहानी की सर्व प्रमुख वृत्ति उसकी

पात्र हैं, माधव, घीसू और हल्कू । आधुनिक कहानीकार भी व्यवस्थागत विसंगतियों के विविध आयामों को प्रस्तुत करने में सिद्धहस्त हैं । उनकी कहानियों के नायक इन विसंगतियों को चुनौती देने में सक्षम है । दर असल ऐसे नायकों ने प्रेमचंद के युग से चुनौतियाँ देना शुरू किया था । नायकों का व्यवस्था को चुनौती देने का यह तेवर प्रेमचंद की कहानियों के नायकों की देन है । समय के साथ नायक का यह गुण विकसित हुआ भी है ।

प्रेमचंद भाषा के क्षेत्र में भी समकालीन कहानीकारों को प्रभावित किया है । डा.पुष्पपाल सिंह ने भाषा संबंधी प्रभाव को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि प्रेमचन्द का योगदान हिन्दी को सर्वग्राह्य भाषा के रूप में प्रस्तुत करने में ही नहीं अपितु वे कहानी की ऐसी भाषा गढ रहे थे, कहानी को भाषा का ऐसा संस्कार गढ रहे थे, जो आज भी हिन्दी लेखकों का आदर्श है ।[1] प्रेमचंद की परवर्ती कहानियों में यह भाषागत रचाव और भाषा के सरलीकरण का कौशल दर्शनीय है । "सवा सेर गेहूँ" की प्रारंभिक पंक्तियों से उनकी इस कला का उदाहरण दिया जा सकता है, "किसी गाँव में शंकर नाम का एक कुरमी किसान रहता था । सीधा-सादा, गरीब आदमी था । अपने काम से काम, न किसी लेन में न देन में । छक्का-पंजा न जानता था, छल-प्रपंच की उसे छूत भी न लगी थी । ठग जाने की चिंता न थी, ठग विद्या न जानता था । भोजन मिला, खा लिया, न मिला चबेने पर काट दी, चबेना भी न मिला तो पानी पी लिया और राम का नाम लेकर सो रहा ।"[2]

---

1. डा.पुष्पपाल सिंह, समकालीन कहानी सोच और समझ, पृ.37.
2. प्रेमचन्द, मानसरोवर भाग-4, पृ. 188.

पात्र हैं, माधव, घीसू और हल्कू । आधुनिक कहानीकार भी व्यवस्थागत विसंगतियों के विविध आयामों को प्रस्तुत करने में सिद्धहस्त हैं । उनकी कहानियों के नायक इन विसंगतियों को चुनौती देने में सक्षम है । दर असल ऐसे नायकों ने प्रेमचंद के युग से चुनौतियाँ देना शुरू किया था । नायकों का व्यवस्था को चुनौती देने का यह तेवर प्रेमचंद की कहानियों के नायकों की देन है । समय के साथ नायक का यह गुण विकसित हुआ भी है ।

प्रेमचंद भाषा के क्षेत्र में भी समकालीन कहानीकारों को प्रभावित किया है । डा. पुष्पपाल सिंह ने भाषा संबंधी प्रभाव को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि प्रेमचन्द का योगदान हिन्दी को सर्वग्राह्य भाषा के रूप में प्रस्तुत करने में ही नहीं अपितु वे कहानी की ऐसी भाषा गढ रहे थे, कहानी को भाषा का ऐसा संस्कार गढ रहे थे, जो आज भी हिन्दी लेखकों का आदर्श है ।[1] प्रेमचंद की परवर्ती कहानियों में यह भाषागत रचाव और भाषा के सरलीकरण का कौशल दर्शनीय है । "सवा सेर गेहूँ" की प्रारंभिक पंक्तियों से उनकी इस कला का उदाहरण दिया जा सकता है, "किसी गाँव में शंकर नाम का एक कुरमी किसान रहता था । सीधा-सादा, गरीब आदमी था । अपने काम से काम, न किसी लेन में न देन में । छक्का-पंजा न जानता था, छल-प्रपंच को उसे छूत भी न लगी थी । ठग जाने की चिंता न थी, ठग विद्या न जानता था । भोजन मिला, खा लिया, न मिला चबेने पर काट दी, चबेना भी न मिला तो पानी पी लिया और राम का नाम लेकर सो रहा ।"[2]

---

1. डा. पुष्पपाल सिंह, समकालीन कहानी सोच और समझ, पृ. 37.
2. प्रेमचन्द, मानसरोवर भाग-4, पृ. 188.

इस अंश को यदि हम सातवें-आठवें दशक के कहानीकारों की रचनाओं से मिलाकर मूल्यांकन करेंगे तो बहुत समानता दिखाई पड़ेगी । मिथिलेश्वर की कहानी "बंद रास्तों के बीच" में देखिए - वह खाना खाने के बाद बीड़ी सुलगाकर सोचता है - अब राम भी अपनी नहीं होती है । दिन भर मालिक का काम करो और रात में उनके खलिहान में सोओ । मर मरकर फसल उपजाओ । रात में चोरों से उसकी रक्षा करो । फिर सारी फसल मालिक के घर पहुँचा दो ।"[1] प्रेमचंद की भाषा आज के कहानीकारों के लिए आदर्श बनी । आज के कहानीकार प्रेमचन्द के भाषा-संस्कार को पाकर धन्य हो उठे हैं । इस प्रकार के व्यक्तित्व अनेक दृष्टियों से आधुनिक हिन्दी कहानी के मार्गदर्शक सिद्ध हुए हैं । वस्तुतः प्रेमचन्द हिन्दी कहानी के पुरोधा पुरूष थे ।

परंपरागत कहानी शैली में परिवर्तन

समकालीन कहानी, जीवन के यथार्थ से सीधे टकराती है । इस टकराव के पीछे एक पूर्वाग्रह रहित दृष्टि है जो परंपरागत मूल्य-परिपाटी को नकारती हुई अपने अस्तित्व की गहनतम अभिव्यक्ति देती है । कहानी की दृष्टि इस दौर में दार्शनिक या समाजशास्त्रीय के आरोपित बोध से मुक्त होकर सीधे व्यवस्था और जीवन से निकट संबंध रखने लगती याने व्यवस्था के प्रति एक प्रचण्ड आक्रोश व्यक्त करती है । आज का लेखक जीवन स्थितियों से प्रत्यक्ष रूप से संबंध रखते हैं । इस संदर्भ में डा॰ भगवानदास वर्मा ने लिखा है - "पिछली कहानियाँ अनुभव की खोज तक ही सीमित रह गयी, समकालीन कहानी में यह खोज पहचानने में रूपांतरित हुई और अनुभवों को जीवन के जीवन्त

---

1. मिथिलेश्वर, माटी की महक, पृ॰ 70.

संदर्भों में अभिव्यक्ति मिली ।"[1] वस्तुत: आधुनिक कहानी अनुभवों के स्तर पर दृष्टि की सचेतनता और अभिव्यक्ति के स्तर पर शिल्पहीनता का शिल्प और आधुनिक भावबोध को सच्चे अर्थों में कलात्मक स्तर पर उठाया था । वह समकालीन जीवन स्थितियों को बड़े सूक्ष्म निगाहों से पहचान रही है और अपनी इस पहचान को कलात्मक साँचे में ढालना भी चाहती है ।

"कथ्य के संबंध में समकालीन कहानी परंपरा से मुक्त होने का सफल प्रयास कर रही है ।"[2] आज कहानीकार किसी भी "कथ्य" पर अवलम्बित नहीं रहा हैं । सतही और सामान्य कथ्यात्मकता से यह कहानी मुक्त हो रही हैं । समकालीन कहानियों में जो दुनिया उभर रही है उसमें रहनेवाला व्यक्ति किसी भी व्यवस्था का गुलाम नहीं है । वह यथास्थिति को भी स्वीकार नहीं करता ।[3] समकालीन कहानीकार जीवन-तथ्यों को उनके नंगे रूपों में देखते हैं और उसी रूप में दिखाते भी है । कहानीकारों के पास इतना समय ही नहीं रहता कि वे अपने अनुभवों को चिंतन की प्रक्रिया से गुज़रने दे और उन्हें कलात्मक स्तर प्राप्त करने दें । इन कहानीकारों के पास यथार्थ एक दर्शन के रूप में नहीं उभरा है । उनके पास अनुभव का एक आँच है जिसको अभिव्यक्ति भी दी जाती है । कथ्य की आंतरिक चेतना अभिव्यक्ति में स्वयं उजागरित होती हैं । फलत: समकालीन कहानी सही परिवेश में सही कथ्य की खोज कर रही है । कहानी की पुरानी "कहानीपरकता" तोड़ रही है । उसके स्थान पर नवीन कहानीपरकता की तलाश ज़ारी है जिसमें समूचे सर्वहारा के अनुभव मुखर होने

---

1. डा. भगवानदास वर्मा, कहानी की संवेदनशीलता : सिद्धांत और प्रयोग, 1972, पृ. 256.
2. वही - पृ. 259.
3. वही - पृ. 259.

लगे हैं । डा. भगवानदास वर्मा ने जिक्र किया है कि "आशा है समकालीन कहानी अपना सही मुहावरा खोजने लगी है और कहानी न लगते हुए भी कहानी लगेगी ।"[1]

कहा जा चुका है कि कहानी पहले मनोरंजन के लिए होती थी । अब आम जीवन के सोच के साथ अटूट संबंध रखती है । आज इसमें पूर्ववर्ती कहानियों के समान चमत्कारिता, कुतूहलता या नाटकीयता के मोड़ का उतना बोलबाला नहीं है जितना जीवन स्थितियों की विसंगतियों की अभिव्यक्ति संपन्न हुई है । इसके साथ ही साथ समकालीन कहानियों ने चरित्रों की धारणा को भी बदल दिया है । पुराने किस्म के चरित्र रह ही नहीं गये हैं । पूर्ववर्ती कहानीकार चरित्र की सृष्टि निर्बाध करते थे । उनकी कहानियों में जो चरित्र-चित्रण विशेषताओं के साथ किया जाता था, वह अब देखने को नहीं मिलता । वास्तव में आज की कहानी चरित्र-चित्रण के बल पर विकसित होनेवाली कहानी नहीं है । आज की कहानी में सामान्य जीवन जीते हुए अपमान, सुख-दुःख सबकुछ सहते मनुष्य दिखाई देने लगे हैं । इन मनुष्य रूपों को कहानीकारों ने उसी रूप में रहने दिया है । इस संदर्भ में नरेन्द्र मोहन का कथन है कि .... हिन्दी कहानी में यह बात खास तौर पर लक्षित करने की है कि इनमें पात्र एक विकसित प्रगतिशील स्तर पर सोचते हुए दिखाये जाते हैं । उन्हें समस्याओं या स्थितियों की पूरी पूरी जानकारी भी रहती है । हिन्दी कहानी के विकासक्रम को देखते हुए इसे संवेदना के स्तर तक की अंतर्यात्रा भी माना जा सकता है ।"[2] प्रह्लाद अग्रवाल

---

1. डा. भगवानदास वर्मा, कहानी की संवेदनशीलता: सिद्धांत और प्रयोग, 1972, पृ. 259.

2. नरेन्द्र मोहन, हिन्दी कहानी, आठवाँ दशक, पृ. 25.

लगे हैं । डा. भगवानदास वर्मा ने जिक्र किया है कि "आशा है समकालीन कहानी अपना सही मुहावरा खोजने लगी है और कहानी न लगते हुए भी कहानी लगेगी"।[1]

कहा जा चुका है कि कहानी पहले मनोरंजन के लिए होती थी । अब आम जीवन के सोच के साथ अडिग संबंध रखती है । आज इसमें पूर्ववर्ती कहानियों के समान चमत्कारिता, कुतूहलता या नाटकीयता के मोड का उतना बोलबाला नहीं है जितना जीवन स्थितियों की विसंगतियों की अभिव्यक्ति संपन्न हुई है । इसके साथ ही साथ समकालीन कहानियों ने चरित्रों की धारणा को भी बदल दिया है । पुराने किस्म के चरित्र रह ही नहीं गये हैं । पूर्ववर्ती कहानीकार चरित्र को सृष्टि निर्बाध करते थे । उनकी कहानियों में जो चरित्र-चित्रण विशेषताओं के साथ किया जाता था, वह अब देखने को नहीं मिलता । वास्तव में आज की कहानी चरित्र-चित्रण के बल पर विकसित होनेवाली कहानी नहीं है । आज की कहानी में सामान्य जीवन जीते हुए अपमान, सुख-दुःख सबकुछ सहते मनुष्य दिखाई देने लगे हैं । इन मनुष्य रूपों को कहानीकारों ने उसी रूप में रहने दिया है । इस संदर्भ में नरेन्द्र मोहन का कथन है कि .... हिन्दी कहानी में यह बात खास तौर पर लक्षित करने की है कि इनमें पात्र एक विकसित प्रगतिशील स्तर पर सोचते हुए दिखाये जाते हैं । उन्हें समस्याओं या स्थितियों की पूरी पूरी जानकारी भी रहती है । हिन्दी कहानी के विकासक्रम को देखते हुए इसे संवेदना के स्तर तक की अंतर्यात्रा भी माना जा सकता है ।"[2] प्रह्लाद अग्रवाल

---

1. डा. भगवानदास वर्मा, कहानी की संवेदनशीलता: सिद्धांत और प्रयोग, 1972, पृ. 259.

2. नरेन्द्र मोहन, हिन्दी कहानी, आठवाँ दशक, पृ. 25.

ने इसे ज़्यादा स्पष्ट करके कहा है - सातवें दशक की कहानी परंपराओं, आदर्शों, नैतिक मूल्यों के चोले उतार कर सामान्य जीवन से बन्धी है और विभिन्न अर्थों में जीवन के संक्रमण को पूरी सच्चाई के साथ पेश कर रही है ।

संक्षेप में कह सकते हैं कि साठोत्तरी कहानी साहित्य में जो जबरदस्त प्रवाह कथ्य और शिल्प के स्तर पर फूट निकला था वह अपने आप में पूर्ववर्ती कहानियों की अपेक्षा बिलकुल ही नया था । यह नयापन तत्कालीन जीवन-बोध से उद्भूत एक भाव-बोध का परिणाम था । परंपरागत जीवन मूल्यों के विरोध में नयी जीवन दृष्टि का एक ऐसा आक्रमण था, जहाँ हर पुरानी चीज़ अस्वीकृत की जाती है ।

तीसरा अध्याय

आधुनिक युग के विभिन्न कहानी आन्दोलनों के तहत

अभिव्यक्त प्रगतिवादी चेतना

संसार और सामाजिक ज़िन्दगी परिवर्तनशील है । उनके अनुसार साहित्य में भी परिवर्तन होता है याने साहित्य संबंधी अवधारणाएँ भी बदल जाती हैं । कहानी साहित्य भी इस परिवर्तन के बाहर नहीं है । पहले तो कहानी सुनने-सुनाने की चीज़ समझी जाती थी, फिर पढ़ने-पढ़ाने की हुई और अब समझने-समझाने की बन गई है ।[1] आज पाठक कहानी को सिर्फ पढ़कर छोड़ते नहीं । वह संभावनाओं की प्रतीक्षा करता है । इतना ही नहीं कहानी से जीवनोपयोगी प्रगतिचेतना को उजागरित कराने की अपेक्षा भी की जाती है । अपेक्षाओं की पूर्ति होती है या नहीं होती है, इसकी सही पहचान तब संभव है जब हम आज तक की कहानियों की उपलब्धियों एवं सीमाओं पर दृष्टि डालते हैं ।

नयी कहानी की सीमाएँ

नयी कहानी का प्रादुर्भाव भले ही स्वतंत्रता के पहले हुआ फिर भी उसकी शुरूआत स्वतंत्रता के बाद मानना समीचीन है क्योंकि नयी कहानी की अधिकांश प्रवृत्तियाँ स्वतंत्रता के बाद के भारतीय जीवन परिवेश से जुड़ी हुई हैं । इस बात को नज़रिये में रखकर नयी कहानी की सीमाओं की पहचान समीचीन होगी । नयी कहानी अपनी निजी उपलब्धियों में सर्वथा एक सराहनीय कहानी आन्दोलन है और उसके साथ अपनी सीमाओं के लिए भी स्वयं जिम्मेदार है । यह तो सही है कि नयी कहानी पूर्ववर्ती कहानी के समान कोई खास दर्शन व फारमूलों के चंगुल में पड़कर नहीं रह गयी । नयी कहानी का दावा है कि उसने अपना ही एक नज़रिये का वरण किया है । मतलब है कि

---

1. डा. लक्ष्मणदत्त गौतम, आधुनिक हिन्दी कहानी साहित्य में प्रगतिचेतना, 1972, पृ. 494.

नयी कहानी ने पूर्ववर्ती कहानी से वाकई एक अलग कथ्यगत और शिल्पगत तलाश की है । नयी कहानी की सबसे बडी सीमा यह है कि कहानीकारों एवं आलोचकों ने जिस प्रवाह में बहकर नयी कहानी को समझने का प्रयत्न किया है वैसी नयी कहानी वस्तुतः अपने मूल रूप में नहीं है ।[1]

व्यक्तिकेन्द्रित कहानी

नयी कहानी व्यक्ति के अनुभवों से जुडी कहानी है । व्यक्ति को कहानी के केन्द्र में रखकर वैयक्तिक चेतना को उभारा गया है । फलतः व्यक्तिचेतना का स्वर नयी कहानी में मुखरित हुआ और सामाजिक दृष्टि का याने सामाजिकता का स्वर क्षीण पड गया है । स्वतंत्रता के बाद भारत के सामाजिक जीवन में जो परिवर्तन हुआ उसकी ओर रचनाकार की गहरी दृष्टि पडी नहीं है । वैयक्तिकता का प्रभाव प्रमुख रहा । समाज, राजनीति और सत्ता में जो अनैतिकता, भ्रष्टाचार व शोषण का फैलाव हुआ उनके विरुद्ध एक हथियार के रूप में कहानी की जो अपेक्षा हो सकती थी, लेकिन वह संभव नहीं हुआ । चाहे चेतना व संवेदना के स्तर पर कहानी अपने अंतरंग में सीमित होकर पूर्णतः व्यक्तिन्मुख हो गयी । इसके संबंध में राजेन्द्र यादव का कथन यहाँ स्मरणीय है -"कलाकार का व्यक्तित्व, उसका परिचय, उसका विश्वास और उसकी प्रतिबद्धता- सभी उसकी कला होती है । जो कुछ वहाँ नहीं है उसका महत्व और मूल्य क्या, क्यों हो ?"[2]

स्वतंत्र भारत के शहरों के मध्यवर्ग में यह वैयक्तिकता

---

1. डा. लक्ष्मणदत्त गौतम, आधुनिक हिन्दी कहानी साहित्य में प्रगतिचेतना, 1972, पृ. 458.

2. वही - पृ. 137.

ज़्यादातर दिखाई पडती है । मध्यवर्ग का व्यक्ति अधिकाधिक आत्मपरक है । नयी कहानीकार मुख्यत: मध्यवर्ग से आनेवाले थे । अत: मध्यवर्गीय व्यक्तिचेतना ही उनकी कहानियों में ज़्यादातर ध्वनित हो गयी । उनका दावा है कि वे वैयक्तिकता को समाज सापेक्ष समझते है ।[1] लेकिन यह दावा सही नहीं था । डा.लालचन्द गुप्त मंगल का कहना है -"समय पाकर व्यक्तिवादिता नयी कहानी की मौत का कारण बनी ।"[2]

आज़ादी से जुडी जो आशाएँ और आकांक्षाएँ थी उनकी पूर्ति नहीं हो पायी । उनके निराश मन में राजनीति व सत्ता की मूल्य-च्युति और भ्रष्टाचार से विद्रोह व रोष ज़रूर थे । नयी कहानी ने उनके रोष को देखा नहीं या उसको उभारने में कामयाब नहीं निकली । .... इन कहानियों में प्रगतिवादी दौर की कहानियों की तरह न तो सर्वहारा का चित्र है और न वैसी प्रखर वर्गचेतना ।"[3] इसके बदले कहानीकार व्यक्ति मन की गहराइयों में उतरकर उसकी सूक्ष्म अभिव्यक्ति स्वयं अपने वैयक्तिक अनुभवों के ज़रिये करने लगे । इस कारण कहानी में व्यक्ति की कुंठा, संत्रास, घुटन आदि की अभिव्यक्ति ज़ोर पकडी । उन अनुभवों को वे आधुनिकता के नाम पर व भोगा हुआ यथार्थ के नाम पर कहानी के द्वारा अभिव्यक्त करने लगे । "नयी कहानी पर एक आरोप ओढी हुई आधुनिकता का भी लगाया जाता है, क्योंकि नयी कहानी में अकेलापन, हताशा, संत्रास, घुटन आदि आधुनिकता

---

1. डा.लक्ष्मणदत्त गौतम, आधुनिक हिन्दी कहानी साहित्य में प्रगतिचेतना, 1972, पृ. 137.
2. डा.लालचन्दगुप्त मंगल, सारिका §16-29 फरवरी§, 1984, पृ. 20.
3. डा.उषा चौहान, नयी कहानी के कहानीकारों की आलोचनात्मक दृष्टि, 1990, पृ. 50.

के तत्वों का जो चित्रण किया गया है वह उनका भोगा हुआ यथार्थ नहीं बल्कि पश्चिम से नकल किया गया यथार्थ है ।[1] कथ्य की दृष्टि से कहानी में कोई खास प्रगति नहीं हुई । इतना ही नहीं वह बौद्धिकता के अतिरेक से अधिकाधिक दुरूह और जटिल हो गया और सामान्य पाठक के पकड़ से बाहर हो गया ।

नये कहानीकार कहते हैं कि वे कहानी में वस्तु-सत्य के उद्घाटन करते हैं । लेकिन सत्य यह है कि वैज्ञानिक जीवन दृष्टि के अभाव में अनुभव पर ज़ोर देने के कारण वस्तु-सत्य की अभिव्यक्ति क्षीण हो गयी । वस्तु-सत्य अपने अनुभव के दायरे में कुंठित होकर वस्तु-स्थिति से समझौता करने के लिए मजबूर हो गया । इसके साथ नयी कहानी "सामाजिकता" का शोर तो कहानीकारों के द्वारा मचाती जाती हैं लेकिन जैसे ऊपर सूचित किया गया है कि सामाजिकता का अभाव नयी कहानी में सर्वत्र अनुभव कर सकते हैं । उनकी सामाजिकता में ऐतिहासिक परिदृश्य का अभाव है । कमलेश्वर व मोहन राकेश की कहानियों में यह बात देखी जा सकती है । यद्यपि नयी कहानी में अनुभूति की प्रामाणिकता और प्रगतिशील दृष्टि है फिर भी इसमें वर्ग सापेक्ष दृष्टि का अभाव है । इसलिए यह आन्दोलन सफल नहीं हो पाया । नयी कहानी को अपनी जीवन दृष्टि में विद्रोह को स्वीकार करके उसे सजग रखना चाहिए था । क्योंकि स्वतंत्रता के बाद जीवन के हरेक क्षेत्र में भ्रष्टाचार का बोलबाला रहा । उन्हें चाहिए था कि सर्वहारा का पक्षधर बनकर विद्रोही चेतना को उजागरित करें और परिवर्तन के लिए आह्वान दें । डा. धनंजय वर्मा का कथन है - आज के लेखकों का विद्रोह, विद्रोह से अधिक फैशन है । क्योंकि वे जो भोगते हैं और झेलते हैं, उसका चित्रण नहीं करते बल्कि "विशिष्ट" और आधुनिक कुछ और ही है । वे ऐसा लेखन करते हैं जो नितांत संदर्भहीन, अपरिचित और अविश्वसनीय होता है ।[2]

---

1. डा. उषा चौहान, नयी कहानी के कहानीकारों की आलोचनात्मक दृष्टि, 1990, पृ. 50.
2. वही - पृ. 66.

शिल्प के क्षेत्र में भी प्रयोग पर ध्यान रखने के कारण शिल्प में विघटन स्वभावतः ही आ गया। वैयक्तिकता पर ज़ोर देने के कारण नयी कहानी में आत्म विज्ञापन और आडम्बरपूर्ण वक्तव्यों की प्रवृत्ति को बढावा मिला है। इससे कहानी की समग्र धुंधली पड गयी, पर जटिलता अपने आप आ गयी। कहानीकारों ने संश्लिष्ट जीवन के कथासूत्रों या अनुभूतियों की अभिव्यक्ति का प्रयास किया है। नयी कहानी की अवश्य अपनी सीमाएँ हैं। वह अपने आखिरी चरण में मूल्यगत अस्थिरता का शिकार हो गयी थी। अतीत के प्रति एक चिपचिपा लगाव से नयी कहानी पूर्णतः मुक्त नहीं पायी थी। अतिरिक्त भावुकता और रूमानियत के विभिन्न छद्मों से भी बुरी तरह जुड गयी। इसमें वैयक्तिक, आक्रोश, यौन, समलैंगिक क्रियाओं का उत्पात, संत्रास, घुटन, नितांत अकेलापन, अजनबीपन, व्यर्थताबोध आदि जो बातें उछाली गई है, वे भोगी हुई और प्रामाणिक नहीं रहीं। वे ओढी हुई और आयातीत थीं। इसमें विदेशीपन इतना हावी हो गया था कि भारतीय जीवन यथार्थ को भी विदेशी नज़रिये से परिभाषित किया गया।[1]

इस तरह नयी कहानी आन्दोलन यद्यपि समय के साथ सरोकार रखने का प्रयास किया फिर भी वह अपने लक्ष्य में कहीं चूक गयी। उसकी क्षति का सबसे बडा कारण यह है कि इस आन्दोलन के पीछे कोई ठोस वैचारिक दार्शनिक पृष्ठभूमि का अभाव रहा। इसे असली प्रेरणा नयी कविता के आन्दोलन से मिली थी। इसलिए इस आन्दोलन की असलीयत सन्देहास्पद हो गयी। यह स्पष्ट था कि आधार असली न होकर नकली था। डा. भगवानदास वर्मा के अनुसार -"नई कहानी ज़िन्दगी के सत्य से कटकर

---

1. डा. जितेन्द्र वत्स, साठोत्तरी हिन्दी कहानी और राजनैतिक चेतना, 1989, पृ. 64.

इकहरे व्यक्तिगत सत्यों की पुनरावृत्ति करने लगी । रचनाशील रहने के लिए कृत्रिम कोशिशों में वह स्वयं को दोहराने लगी । "नयी कहानी" रुढी बन गई, जिससे उसकी संवेदनशीलता स्थिर न होकर गतिहीन भी हो गई ।"[1]

नयी कहानी उसके अंतिम चरण में रुग्ण रूमानियत से भर गयी । उसका कोई वैयक्तिक या सामाजिक प्रतिबद्धता नहीं रही । नयी कहानी के अन्तर्गत सबसे अधिक उन कहानियों की है जो प्रेमसंबंध पर आधारित है । फणीश्वरनाथ रेणु की कहानी "रसप्रिया" इसका उदाहरण है । नयी कहानी का दावा अनुभवों की प्रामाणिकता पर है । लेकिन वास्तव में नयी कहानी जीवनानुभवों की सच्चाई में एक हद तक अप्रामाणिक है । अनुभूति और अभिव्यक्ति के हर स्तर पर अप्रामाणिक रहनेवाला कहानीकार "मृत्युबोध", संत्रास, जैसी गंभीर एवं जटिल अनुभूतियों पर कहानियाँ लिखने लगा । यह तथाकथित अस्तित्ववादी लेखक संत्रास के नाम पर या तो जीवन का निषेध करनेवाली किताबी बातें लिखता रहे, नहीं तो आत्महत्या के भयावह काल्पनिक चित्र का निर्माण करने लगे । इन चित्रों में सार्त्र-कामू का अनुकरण अधिक था, भारतीय परिवेश और जीव संदर्भ की सच्चाई बिलकुल ही नहीं थी । मात्र वैचारिक स्तर पर "संत्रास" की अभिव्यक्ति कहानी का फार्मूला बना देती है, और हुआ यही । अपनी कहानियों में यातना-संत्रास, जैसे शब्द छिपाकर आधुनिक बनने की करूण कोशिश होती रही ।[2]

नयी कहानी गाँव और शहर दोनों परिवेशों को अलग-अलग

---

1. डा. भगवानदास वर्मा, कहानी की संवेदनशीलता सिद्धांत और प्रयोग, 1972, पृ. 253.

2. वही - पृ. 253.

देखती थी याने कहानी को दो धरातलों पर बाँटकर देखती थी । इससे नयी कहानी में परिवेशगत एकरूपता का अभाव है । इसके साथ ही साथ कहानीकारों के लेखन में ईमानदारी नहीं रही । अपने अनुभव पर आधारित जो यथार्थ वे अभिव्यक्त कर रहे थे । लेकिन वे यथार्थ तत्कालीन यथार्थ नहीं थे । वे याद बने अनुभवों पर आधारित थे । इसके अलावा नयी कहानी पारिवारिक जीवन की सूक्ष्मता पर ज़ोर देकर सामाजिक दायित्व को भूल गयी । उषा प्रियंवदा की कहानी "वापसी", भीष्म साहिनी की कहानी "चीफ़ की दावत" आदि कहानियाँ पारिवारिक जीवन की सूक्ष्मता को अंकित करती है । इस प्रकार उपर्युक्त परिस्थितियों में सन् 1960 ई. से लेकर कहानी परिवर्तन की दिशा की ओर अग्रसर होने लगी ।

अकहानी

स्वतंत्रता के पहले स्वतंत्र भारत के संबंध में भारत की युवा पीढ़ी ने जो सपने देखे थे, जो आशाएँ आकांक्षाएँ संजोए रखी थीं उनकी पूर्ति नहीं हुई । युवा जन अपने भविष्य को अंधकारमय पाए । उन्हें आशा की किरणें दिखाई नहीं पड़ीं । सत्ता हस्तांतरण से आम जनता के जीवन में कोई बदलाव नहीं आया, वे वहीं का वहीं रह गयी । सर्वहारा वर्ग मोहभंग और निराशा की स्थिति में थे । क्योंकि स्वतंत्रता के बाद राजनीतिक भ्रष्टाचार निर्बाध गति चलते रहे । बेकारी की समस्या हल करने में सत्ता पराजित रही । साम्प्रदायिक दंगे देश में पुनः जागृत हुए । सत्ता में सामान्य जनता भाग ले न सके । देश की प्रगति के लिए जो पंचवर्षीय योजनाएँ आयोजित की गयी हैं उनकी फ़ायदा शोषकों के पक्ष में गयी । पूँजीपतियों ने जाति, धर्म और वर्ण के नाम पर जनता को अलग करके शोषण बरकरार रखा ।

स्वदेशी शोषकों के चंगुल में पड़कर जनता छटपटाती रही । देश की एकता खतरे में पड़ गयी । भाषा, प्रांत, वर्ग आदि के नाम पर देश में इधर-उधर विघटन की ताकतें अपने पंजे को मज़बूत करने लगी । साहित्य के क्षेत्र में भी इन सबका प्रभाव पड़ता रहा । बदलते परिवेश के मुताबिक जो परिवर्तन आना चाहिए था वह नहीं आया । स्वतंत्रता के बाद कहानी साहित्य "नई कहानी" के नाम पर व्यक्तिकेन्द्रित होने लगा । इस अवस्था में युवा जन अपनी भावनाओं को स्वतंत्र अभिव्यक्ति नहीं कर पाये । उन्हें बरकरार साहित्य संस्कार को नकारना पड़ा । उन्होंने परंपरागत साहित्य संस्कार को नकारा और नये मूल्यों की तलाश की । दरअसल अकहानी इस तलाश की परिणति थी ।

युवा जनों का मनोभाव अस्वीकार की ओर गया । उनके मन में बरकरार मूल्यों के प्रति वितृष्णा की भावना जागृत हुई । अकहानी का प्रमुख स्वर अस्वीकार और मोहभंग का था । इसमें मौजूदा व्यवस्था और मूल्यों के प्रति अस्वीकार और गुस्सा का चित्रण ज़्यादातर हुआ । पहले कहा जा चुका है कि अकहानी के कहानीकारों ने पूर्ववर्ती कहानी संस्कार व परंपरा को नकारा है । उनका कहना है कि पूर्ववर्ती कहानियाँ वैयक्तिकता के घोर चंगुल में फंसकर संकोच की दिशा में अग्रसर हो रही है । इस संकोच की प्रवृत्ति की ओर कहानीकारों ने अपना गुस्सा व्यक्त किया । उनका मत है कि सामान्य लोगों की समस्याओं का समाधान की खोज कहानी में हो । पूर्ववर्ती कहानी में मानवीयता पूर्णत: अभिव्यक्त नहीं हो पायी थी । इसके प्रति भी विद्रोह करने का आह्वान अकहानी ने दिया । डा. गंगाप्रसाद विमल ने अकहानी को व्याख्यायित करते हुए लिखा -"अकहानी कथा के स्वीकृत आधारों का निषेध तथा किसी भी तरह के मूल्य स्थापना का अस्वीकार है ।"[1] इन सब बातों को

---

1. गंगाप्रसाद विमल, समकालीन कहानी का रचना विधान, पृ. 17.

सामने रखकर डा. जितेन्द्र वत्स का मानना है कि अकहानी के आन्दोलन ने कहानी के परम्परित कथानक के शिल्प या साँचे और जीवन-बोध से असंगति रखनेवाले मूल्यों को भी नकार दिया ।[1]

अकहानी परम्परागत मूल्य, रूढ़मूल पारिवारिक रिश्ता, बरकरार, आचार-विचार, व्यवस्था का नैतिक बोध आदि सभी को अस्वीकार करती है । उसका अस्वीकार कला के स्तर पर भी हुआ । उन्होंने परंपरागत कथा धारणा व शिल्प का तिरस्कार किया । अकहानी परंपरागत शिल्प का विरोध तो करता है साथ ही साथ नये शिल्प के प्रति उदासीन भी है । यह दरअसल एक शिल्पहीन आन्दोलन है । अनुभूत सत्य को यथातथ्य रूप में अभिव्यक्त करने में ही अकहानीकार अपनी प्रतिबद्धता ज़ाहिर करते हैं । रवीन्द्र कालिया की "त्रास", "नौ साल छोटी पत्नी", दूधनाथ सिंह की कहानी "रीछ", "आइस बर्ग", ज्ञानरंजन की कहानी "पिता", गंगाप्रसाद विमल की "विध्वंसा" आदि कहानियाँ इस आन्दोलन के संदर्भ में उल्लेखनीय हैं ।[2]

अकहानी आन्दोलन का अस्वीकार धीरे-धीरे सीमा का उल्लंघन भी करने लगा । वास्तव में इस प्रवृत्ति का फल यह हुआ कि वह स्वस्थ मानवीय संबंध को ठुकराने लगा । उसकी दृष्टि यहाँ तक पहुँच गयी कि उसने माँ-बाप को भी व्यवस्था की सृष्टि मानी । और वह स्वयं व्यवस्था का प्रतिनिधित्व करने लगा । संबंधों की व्यर्थता और खोखलेपन का पर्दाफाश भी कर दिया । आज के जीवन का घुटन, तनाव, ऊब आदि की सही अभिव्यक्ति

---

1. डा. जितेन्द्र वत्स, साठोत्तरी हिन्दी कहानी और राजनीतिक चेतना, 1989, पृ. 70.
2. वही - पृ. 71.

मिली । इस संदर्भ में रामदरश मिश्र ने कहा है - अकहानी विसंगतिबोध, संत्रास, अकेलापन, टूटन, मृत्युबोध, लिजलिजेपन को आज के जीवन का यथार्थ मानकर रूपायित करना चाहती है । यह सामाजिक जीवन की संघशक्ति तथा मानवीय और सामाजिक मूल्यवादिता के प्रति उदासीन नहीं विरोधी भी है ।[1] अकहानी की स्वतंत्रता के प्रति आस्था अश्लील संबंधों को प्रस्तुत करने की स्थिति तक पहुँच गयी । इन्होंने संभोग के दृश्यों का बेरोक-टोक वर्णन किया । कहीं-कहीं समलैंगिक संपर्क और कहीं पशु संपर्क आदि को भी उन्होंने बिना हिचक प्रस्तुत किया । धीरे-धीरे यह संभोग का आन्दोलन हो गया । इन कहानीकारों ने मूल्यहीनता और विसंगतिबोध को मूलतः यौन संबंधों में खोजा । इन्होंने पश्चिमी कहानी के फारमूलों के सहारे अपने जीवन संदर्भों में प्राप्त सत्य को अंतर्राष्ट्रीय बनाने का प्रयास किया । केवल फारमूलों के ज़रिये इन्होंने एक असत्य लोक की रचना कर ली ।[2] सेक्स के प्रति अतिरिक्त उन्मुखता की वजह वे समाज के प्रति प्रतिबद्धता तथा दायित्व को भूल गये । इसलिए इनका कथा संसार न तो व्यापक बन सका और न प्रामाणिक । इसका परिणाम यह निकला कि इस आन्दोलन का रचना काल अत्यंत सीमित रह गया ।

सचेतन कहानी

सचेतन कहानी का उदय नयी कहानी की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ । नयी कहानी के प्रति यह प्रमुख आरोप था कि नयी कहानी की कोई वैचारिक व दार्शनिक आधार नहीं है यानि उसकी कोई निर्णीत मकसद व वह प्रतिबद्धता से लैस नहीं थी । इसमें जीवन को समग्रतः देखने की सफल दृष्टि का

---

1. डा. रामदरश मिश्र, हिन्दी कहानी एक अंतरंग पहचान, 1977, पृ. 102.
2. वही - पृ. 102.

अभाव था । वह वैयक्तिक चेतना में अडिग रहकर सामाजिक दृष्टि से दूर रही। फलत: कहानी में वैचारिक प्रगति असंभव रही । सचेतन कहानी ने कहानी को वैयक्तिकता के बन्धन से मुक्त किया । सचेतन कहानी के प्रवर्तक महीप सिंह ने सचेतन कहानी की वैचारिकता को स्पष्ट करते हुए कहा : "सचेतन" एक दृष्टि है । वह दृष्टि जिसमें मानव जीवन जीया जाता है और जाना भी जाता है ...... कुछ लोग आज के मानव जीवन को निरर्थकता और निष्क्रियता की बातें (विशेष रूप से भारतीय संदर्भ में) बड़े बौद्धिक अंदाज़ से करने लगते हैं । परन्तु यह हमारे देश की अवस्था से विपरीत है, ।[1] इससे यही तात्पर्य है कि व्यक्ति की निष्क्रियता पर बल देनेवाला साहित्य आज के विशेष संदर्भ में स्वीकार्य नहीं है । अत: व्यक्ति को परिवेश के प्रति सचेत रहने के लिए सचेतन कहानी ने प्रतिबद्धता का सहारा लिया । जितेन्द्र वत्स ने उक्त बात पर ज़ोर देते हुए कहा कि सचेतन कहानी ने मानव को जुझारू, सक्रिय और जागरूक बनाने की मानसिकता तैयार की है ।[2]

"सचेतन कहानी" के प्रमुख प्रवर्तक महीप सिंह, हिमांशु जोशी, धर्मेन्द्र गुप्त, ममता कालिया, मनहर चौहान, सुखवीर, रामकुमार भ्रमर, श्याम परमार, जगदीश चतुर्वेदी, आदि है । इन कहानीकारों के लिए सचेतनता का मतलब एक सक्रिय जीवनबोध है । यह जीने की असली पहचान देता है । यह पहचान कहानी में सामाजिकता का समर्थन करता है जो उसे परिवेश में सक्रिय रूप से सहभागी रहने को मजबूर करती है । सचेतन कहानी, कहानी में परिवर्तित समाज को स्वीकारने के पक्ष में है । यह यथार्थ के नाम पर एक ही तरह की बातों को कहानी में उभारने के स्थान पर भाँति-भाँति के जीवन

---

1. सचेतन कहानी ; रचना और विचार, पृ. 12-13.
2. डा. जितेन्द्र वत्स, साठोत्तरी हिन्दी कहानी और राजनीतिक चेतना, पृ. 66.

संदर्भों की प्रस्तुति पर ज़ोर देती है । सचेतन कहानी समाज के सभी प्रकार की बेबसी को भोगते हुए उनसे मुक्ति पाने की तड़प का अनुभव स्वीकार करती है । यह तड़प उसे जीवन की सचेतनता की ओर ले जाती है । महीप सिंह की कहानी "कील", रामकुमार भ्रमर की कहानी "लौ पर रखी हथेली", संजीव की कहानी "एक खुला आकाश" आदि कहानियों ने भिन्न-भिन्न जीवनानुभवों के स्तर पर ली गयी सचेतनता को उभारा है ।[1]

डा. जितेन्द्र वत्स ने सूचित किया है कि सहजता सचेतन कहानी की सामूहिक विशेषता है । सहजता और यथार्थ के साथ सचेतन कहानी प्रतिक्रियानुमा सामाजिक दृष्टि को भी स्वीकार करती है । पूर्ववर्ती कहानी में जो वस्तुगत संकोच की प्रवृत्ति थी उसका उल्लेख सचेतन कहानी में हुआ है । सचेतन कहानीकारों के पात्र चाहे जिस वर्ग के हो उनका संस्कार चाहे जैसा भी हो, लेकिन वे जीवन्त हैं और परिस्थितियों के बहाव में मुर्दों की तरह बहते नहीं चलता ।[2] उक्त बात को डा. वेदप्रकाश अमिताभ ने अधिक स्पष्ट किया है - "इन कहानियों को पढ़ते समय ऐसा नहीं लगता है कि हम ऐयाश मुर्दों की दुनिया से गुज़र रहे हैं, बल्कि लगता है कि भीड़ में खो जाने से जूझते हुए जीवन्त व्यक्तियों के साहचर्य में आ गये हैं ।"[3]

सचेतन कहानी में सहजता की बात को स्वीकार करती है । यह जीवन के यथार्थ को भी सहज दृष्टि से देखता है । यह कहानी आन्दोलन

---

1. डा. जितेन्द्र वत्स, समकालीन कहानी में राजनीतिक चेतना, 1989, पृ. 68.
2. वही - पृ. 68.
3. डा. रामदरश मिश्र, हिन्दी कहानी एक अंतरंग पहचान, 1977, पृ. 113.

सामाजिक जीवन की तीखी पहचान के बावजूद उनके अन्दर निहित मानवीय संवेदना के मर्म का स्पर्श करता भी है । मानवीयता के प्रति इसका यह संस्पर्श इस बात को स्पष्ट करता है कि सहजता ही इस आन्दोलन का केन्द्रीय बिन्दु है । यथार्थ की दृष्टि इसका सहगामी है । यथार्थ की सही पहचान कृत्रिम यथार्थ के जाल में फंसती जा रही कहानी को बचाने का भरसक प्रयत्न करता है ।

संक्षेपत: सचेतन कहानी ने जीवन को सक्रियता और जीवन्तता के परिवेश में रहकर परिवेश के प्रति प्रतिक्रिया जाहिर की और सहजता को नयी व्याख्या दी । इसके साथ कहानी को एक परिप्रेक्ष्य भी दिया । इस प्रकार सचेतन कहानी ने हिन्दी कहानी के इतिहास को एक स्वस्थ दिशा की ओर मोडने की कोशिश की ।

समांतर कहानी

नयी कहानी, सचेतन कहानी, अकहानी आदि ने समाज के एक बहुत बडे वर्ग की उपेक्षा की । वह वर्ग समाज के बहु-संख्यक आम जनता है । समान्तर कहानी के केन्द्र में आम आदमी है । आम आदमी का तबका गाँवों से लेकर बाजारों, कस्बों, नगरों और महानगरों तक फैला हुआ है । आम आदमी में मज़दूर, निम्न मध्यवर्गीय किसान, खेतिहर मज़दूर, कम वेतन पानेवाला शिक्षक, चपरासी और अन्य शोषित पीडित लोगों का संसार शामिल है । इस बडे वर्ग की मुक्ति समान्तर कहानी का लक्ष्य था जो आर्थिक अभाव और जीवन के अनेकानेक समस्याओं से त्रस्त होकर जीवन बिताता था ।

समांतर कहानी ने समयगत सत्यों की सही पहचान की थी । इसी बात ने कहानीकारों को समान ढंग से सोचने को प्रेरित किया । उनको समाज के साथ ठोस भागीदारी का मूल कारण यही था कि इन लेखकों ने अपने लेखन को जीवन के साथ संलग्न किया । उनकी दृष्टि में आम आदमी का जीवन शोषण व दमन के गिरफ्त में पड़ा है । आम आदमी की सचमुच मुक्ति समाजवादी समाज व्यवस्था के द्वारा ही संभव है । समांतर लेखकों की रचना दृष्टि वामपंथी रही थी । वाम मानसिकता आम आदमी के मौलिक अधिकारों की ओर स्पष्टतः सचेत है और लोगों को सचेत करती भी है । इसलिए आम आदमी के प्रति प्रतिबद्ध साहित्यकार आम तौर पर वामपंथ की ओर खींच जाते हैं । लेखक हमेशा आम आदमी के पक्ष में रहकर शासन तन्त्र के प्रति प्रतिक्रिया प्रकट करते भी हैं ।

समांतर कहानी उन सारे शक्तियों के उन्मूलन की बात करती है जिनके कारण आज के समाज में आदमी ऐसे दमघोटू वातावरण में रहने को अभिशप्त है, जहाँ उसकी कम से कम आवश्यकताओं का आधार भी लुप्त हो गया है । वह आम आदमी के संघर्ष की अभिव्यक्ति करते हुए उन सारे कमज़ोर स्थलों की बेरहमी से चीर रही है जिनके कारण आम आदमी के संघर्ष की पकड़ दुर्लभ पड़ गयी है । समांतर कहानी ने आम आदमी को निकट से देखा है, समझा है, उसके प्रामाणिक चित्र कहानियों में खींचे हैं । यह आम आदमी किसी वर्ग या पेशे का नहीं बल्कि पूरे भारतीय समाज का सामान्य जन है । समांतर कहानी में आम आदमी की बदतर स्थितियों के पीछे जो कारण टटोला गया है वह है पुराने रूढ़िगत मूल्यों के प्रति आम आदमी की आस्था जिसे कमलेश्वर ने आम आदमी की संस्कारग्रस्तता माना है ।

समांतर कहानी का सैद्धांतिक पक्ष प्रगतिशील समझ को सबूत देता है और जनसामान्य के प्रति बड़े फिक्र से अपनी संबद्धता और प्रतिबद्धता जाहिर करता है । किन्तु इस दृष्टि के तहत लिखी गयी कहानियाँ ऐसे समान्तर चित्र उकेरने में असफल रही है । यह ठीक है कि समांतर कहानीकारों ने आम आदमी पर दृष्टि केन्द्रित किया, लेकिन सिर्फ एक मुहावरे के तहत । पात्र और यथार्थ को आत्मसात किये बिना, गहरी संबद्धता के बगैर आम आदमी की जो छायाएँ उभारने का प्रयास किया ।

समांतर कहानी यद्यपि आम आदमी की संघर्षशील जीवन स्थितियों को उघाड़ती हुई अपनी सामाजिक पक्षधरता निभाती है, लेकिन यह खेमों में बाँटने का विरोध करती है । ललित मोहन अवस्थी ने समांतर कहानी के चार आक्रामक मोर्चे का जिक्र किया है - सामंत वाद का विरोध , पूँजीवाद का विरोध, साम्राज्यवाद का विरोध और फासिस्टवाद का विरोध । लेकिन इसमें सामंतवादी पूँजीवादी मूल्यों का विरोध ही अधिक मुखर हुआ है । इतना कुछ होने पर भी समांतर कहानी की प्रमुख कमी यह हुई कि उसने आम आदमी के संघर्ष को रचनात्मक आयाम देने तथा उसकी आवाज़ को सामूहिक रूप देने में सफलता नहीं पायी ।

सत्य को प्रस्तुत करने में समांतर कहानीकारों को भाषा की ख्वाइशिस महसूस नहीं हुई थी । क्योंकि उनके पास आम आदमी की भाषा थी । इसलिए अभिव्यक्ति के संकट से समांतर कहानीकार मुक्त थे । समांतर कहानी पूर्वनिर्धारित कहानी प्रवृत्तियों से मुक्त थी । इसकी प्रवृत्तियाँ समय सत्य के साथ ज़्यादा सरोकार रखती थी । राजेन्द्र यादव ने स्पष्टत:

समांतर कहानी के दो पक्ष ज़ाहिर किये हैं - "एक पक्ष में वह उन सारी शक्तियों के उन्मूलन का स्वर घोष करती है जिसके कारण आज के समाज में आदमी ऐसा दमघोटू वातावरण में रहने को अभिशप्त है । जहाँ उसकी कम से कम आवश्यकताओं की पूर्ति का आधार भी लुप्त हो गया । दूसरे पक्ष में, वह आम आदमी के संघर्ष की अभिव्यक्ति करते हुए उन सारे कमज़ोर स्थलों को भी बरहमी से चीर कर रही है जिनके कारण आम आदमी के संघर्ष की पकड़ दुर्बल हो रही है ।[1]

समांतर कहानी आम आदमी के पक्षधर बनकर शोषक के विरुद्ध लड़ रहे हैं । आम आदमी की लड़ाई उस व्यवस्था से हैं जिसमें सामन्तवादी, पूँजीवादी और धर्मवादी शक्तियों की साजिश शामिल है । इस कहानी आन्दोलन ने इन शक्तियों के विरुद्ध लड़ने के लिए प्रेरित करके उनके दायित्व को पूर्णतः निभाया है । हिमांशु जोशी की कहानी "जलते हुए डैने" और आशिष सिंहा की कहानी "आदमी" में शोषण प्रधान व्यवस्था के खिलाफ़ लड़नेवाले आदमी के चित्र मिलते हैं ।

इस कथा आन्दोलन के प्रमुख कहानीकार हैं कमलेश्वर, कामतानाथ, इब्राहिम शरीफ़, मधुकर सिंह, भीष्म साहिनी, राम अरोडा, जितेन्द्र भाटिया, दिनेश पालीवाल, ईश्वर चन्दर, वल्लभ सिद्धार्थ, अजित पुष्कल, मुद्राराक्षस, अकुलेश, ओम गोस्वामी, अनीता आलोक, सुधा अरोडा, गंगा प्रसाद विमल, राही मासूम रजा, प्रदीप पंत, से. रा. यात्री, स्वदेश दीपक,

---

1. डा. राजेन्द्र यादव, माया, 1976, पृ. 64.

ऋषिकेश सुलभ, सच्चिदानन्द धूमकेतु, मिथिलेश्वर, आशिष सिंहा आदि ।[1]

समांतर कहानी को लेकर अनेक आरोप रिकार्ड किये गये हैं । कहा गया है कि समांतर कहानी की सैद्धांतिक स्थापनाएँ कुछ हैं और कहानियों से कुछ और ध्वनित होता है । जीवन मूल्यों के संदर्भ में समांतर कहानी को जाँचने से लगता है कि सिद्धांत पक्ष और व्यवहार पक्ष में कुछ खास फर्क नहीं है । समांतर कहानी असली अपराधी का नकाब नहीं उतार पायी है । इसको कभी जनवादी कहानीकार पूरा करते हैं । "वर्ग संघर्ष" समांतर कहानी में अच्छी तरह उभर कर नहीं आ पाया । इन सभी असंगतियों के बावजूद भी समांतर कहानी के मुहावरों को समाजपरक और विद्रोहधर्मी बनाने में इस कहानी आन्दोलन का योगदान कम नहीं है ।

जनवादी कहानी में वामपंथी विचार धारा

हिन्दी कहानी साहित्य में जनवाद प्रगतिवाद का संस्करण है । अतः जनवादी चेतना का स्वर मूलतः मार्क्सवाद से अनुप्राणित है । भारतीय लेखक संघ से अलग होकर जनवादी लेखक संघ ने जिस राजनीतिक समझ का परिचय दिया था उसका प्रतिनिधित्व करती है "जनवादी कहानी" । यह न केवल किसानों और मज़दूरों की कहानी है बल्कि कस्बे, शहर, महानगर के हरेक शोषित जन की कहानी है । इसमें वर्ग संघर्ष और राजनीतिक संघर्ष को स्थान मिला है । इसकी चेतना क्रांतिधर्मी चेतना है जो मानव अस्तित्व पर आघात पहुँचानेवाली किसी प्रकार की शोषक व्यवस्था चाहे वह सामंतवादी,

---

1. डा. जितेन्द्र वत्स, साठोत्तरी हिन्दी कहानी और राजनीतिक चेतना, 1989, पृ. 76.

पूँजीवादी, साम्राज्यवादी हो, उसका विरोध करती है और जन समुदाय को जागृत करती है । जनवादी कहानी किसान, मजदूर, मेहनतकश सर्वहारा वर्ग के हितों के लिए इन्कलाबी संदेश देती है । समांतर कहानी ने आम आदमी की समस्याओं, उसकी बदतर स्थिति तथा छटपटाहट को ईमानदारी से प्रस्तुत किया था । किन्तु व्यवस्था के खिलाफ अपना सक्रिय आक्रोश प्रकट नहीं कर पाई । यह कार्य जनवादी कहानी ने किया । जनवादी कहानी में जनसामान्य के संघर्ष को रचनात्मक रूप से उकेरा गया है । जनसामान्य का शोषण करनेवाली व्यवस्था को बेनकाब किया है । व्यवस्था परिवर्तन के सामूहिक संघर्ष को प्रेरणा देती है । डा. जितेन्द्र वत्स के अनुसार - जनवादी कहानी ने वर्गसंघर्ष की चेतना को साफ रूपायित किया । टूटे, थके हारे पात्रों की जगह इसने संघर्षशील, जीवंत और जुझारू पात्रों को और वर्ग संघर्ष के चित्रण पर ज़ोर दिया ।[1]

जनवादी कहानी की मूल की खोज करें तो समझ में आएगा कि इसकी जड़ें प्रेमचन्द में है । उनकी परंपरा ने यथार्थ को प्रगतिशील नज़रिये से देखा है । यह यथार्थ दृष्टि जनवादी कहानी में और स्पष्ट हुई है । याने कह सकते हैं कि कहानी साहित्य ने अपने को पुन: प्रेमचन्द की कहानी से जोडा। कर्णसिंह चौहान ने लिखा है कि पिछले दो दशक में कहानी फिर से व्यापक यथार्थ के बीच गयी है और अपना जनवादी स्वरूप गढ रही है । उसने पुन: अपने को प्रेमचन्द की परंपरा से जोडा है । और प्रेमचंद की परंपरा से जुडने का अर्थ प्रेमचन्द की कहानी में लौट आना नहीं, बल्कि प्रेमचन्द की परंपरा को आगे बढाना है ।[2] प्रेमचन्द की परंपरा मुख्यत: यशपाल, मुक्तिबोध आदि कहानीकारों से होकर जनवादी कहानी तक पहुँची । जनवादी कहानीकारों में इसराइल,

---

1. डा. जितेन्द्र वत्स, साठोत्तरी हिन्दी कहानी और राजनीतिक चेतना, 1989, पृ. 79.
2. कर्णसिंह चौहान, लहर, दिसंबर अंक, 1995, पृ. 54-55.

सूरज पालीवाल, नमिता सिंह, नीरज सिंह, श्रीहर्ष, प्रदीप मांडव, रमेश उपाध्याय, असगर वजाहत आदि कहानीकारों का नाम उल्लेखनीय है । इन कहानीकारों ने कहानी को एक कारगर औजार के रूप में इस्तेमाल किया । इनकी कहानियों का मुख्य स्वर व्यवस्था की क्रूरता और शोषण नीति के विरुद्ध रहा है ।

जनवादी कहानी आम आदमी को अपने अधिकारों के प्रति सजग करती है । जनवादी कहानी में संघर्ष से ही मुक्ति की प्राप्ति होती है, ऐसा ऐलान नहीं करती है । लेकिन जहाँ संघर्ष की अनिवार्यता महसूस होती है, वह शस्त्र लेकर संघर्ष करने के पक्ष में हैं । इसराइल की कहानी "फर्क" इस कथन का स्पष्ट दस्तावेज़ हैं । इसका पात्र "विशु" सोचता है -"हम इतना समझ गये हैं कि इसी सत्ता ने हमारा सबकुछ छीन लिया है, इसलिए सत्ता भोगियों के हाथ से इस सत्ता को छीन लो ।" इसमें "बंजरू" का कथन और भी तेज़ है - हमको अब भरोसा अपनी लाठी पर है । जाकर उस ज़मीन्दार के बच्चे से कह दीजिए । हम उसको एक नहीं चलने देंगे । हमने दो सौ बीघे ज़मीन जोत लिए हैं, धान भी काटेंगे । उसको अहिंसा पढ़ाइये, वह हमारा धान लूटने आयेगा तो काफी बहेगी, खून की । हम किसी को मारने नहीं जा रहे हैं, लेकिन हमें मारने आयेगा तो हम उसे छोड़ेंगे भी नहीं ।"[1]

ऊपर कहा गया है कि जनवादी कहानी ने उपेक्षित, शोषित, पीड़ित जनता को अपनी कहानियों में स्थान देकर कहानी को एक विशाल जनसमुदाय से संबद्ध किया । यथार्थ की सही पहचान से ज़्यादा आम आदमी से सरोकार रखने के कारण मार्क्सवादी विचारधारा का प्रयास लाज़िमी था ।

---

1. इसराइल, फर्क, कहानी, 1971, पृ. 20.

जनवादी कहानी ने शोषण और अत्याचार के विरुद्ध निरंतर संघर्ष की ऊर्जा देनेवाली कहानियाँ प्रदान की । जनता के अधिकारों के लिए इस आन्दोलन के कहानीकार संघर्षरत है । इनका संघर्ष सर्वहारा वर्ग को वर्गबोध का एहसास देता है और शोषकों के विरुद्ध जमकर लड़ने की प्रेरणा भी देती है । रमेश उपाध्याय की कहानी "देवीसिंह कौन ?" में मज़दूर वर्ग की लड़ाई में फूट डालनेवाली साजिशों के लिए जिम्मेदार ताकतों की ओर अंगुली उठाई गयी है । श्रीहर्ष की कहानी "भीतर का भय" शोषक तंत्र की क्रूरता और अमानवीयता को उजागर करती है । सतीश जमाली की कहानियों में शोषण से त्रस्त पशुवत् जीवन बितानेवाले लोगों की विवशता का चित्र उभारा गया है ।

जनवादी कहानी मुख्य रूप से गाँव की ज़िन्दगी की ओर उन्मुख है । गाँव में रहनेवाले निष्कलंक लोगों की दुर्दम जीवन को दिखाया गया है । गाँव की यह जनता ज़मीन्दारों के कारनामों के शिकार हैं और वे अपनी आर्थिक गुलामी से मुक्त होने के लिए छटपटाती है । कहानीकारों ने उनके दुःख दर्द को दिखाने के साथ उनमें उभरती विद्रोही चेतना को उजागरित करने का प्रयास किया है । मधुकर सिंह की कहानी "लहू पुकारे आदमी" में जनसंघर्ष को स्पष्ट दिखाया गया है ।

इस आन्दोलन में शिल्प का उतना महत्व नहीं है जितना विचार है । फिर भी कहानीकारों ने प्रतीक, फैंटसी, एबसर्ड शैली, पंचतंत्र शैली का प्रयोग कर कहानी के शिल्प को मज़बूत रखा । भाषा को जनता के निकट लाने की जो कोशिश की है, वह सफल रहा । उन्होंने अपनी कहानियों के

द्वारा यह दिखाया है कि जनता की भाषा में कहानी को काफ़ी अपेक्षाएँ हैं। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि इन कथाकारों ने प्रेमचन्द की परंपरा का विकास किया है, यथार्थ को सही तस्वीर पेश की है और निम्न वर्ग के भविष्य को निर्धारित करने के लिए मशाल जलाए हैं।[1]

सक्रिय कहानी

स्वतंत्रता हासिल करके दशकों के बीत जाने पर भी देश में शोषण नीति चली रही है। जनता की अस्मिता और अधिकार अब भी सुरक्षित नहीं है। राकेश वत्स का कहना है कि हमें जो आज़ादी मिली है, वह वास्तविक नहीं है, गुलामी से आज़ादी में इतना फरक आया है कि विदेशी बुर्ज़ा की जगह स्वदेशी बुर्ज़ा सत्ता में आये। जनसामान्य को नपुंसक, पस्त, विचारशून्य बनाने के लिए जिन हथकण्डों का प्रयोग विदेशी ताकतों ने किया उन्हीं का प्रयोग आज भी स्वदेशी सत्ता द्वारा किया जा रहा है। शोषण का अंधकार दिन-ब-दिन गहराता जा रहा है। इतना ही नहीं विदेशी पूँजीपतियों तथा बहुराष्ट्र कंपनियों को जनता को लूटने का अवसर भी दे रहा है। पहले ब्रिटेन का उपनिवेश था, अब अनेक देशों का उपनिवेश बन गया है। जनता निस्सहाय स्थिति में, मानसिक गिरावट के बीच भटकाव की स्थिति में जी रहा है। व्यवस्था तंत्र शोषण का शिकंजा बराबर कसता चला जा रहा है। ऐसी स्थिति में रचनाकार की सक्रियता तथा संघर्षशीलता महत्वपूर्ण है। सक्रिय कहानी इसको मुखर करती है। सक्रिय कहानी साहित्य इस सार्थकता के प्रति समर्पित है कि साहित्य संकल्प और प्रयत्न के बीच के दरार को पाटने का एक ज़रिया है।

---

1. डा. जितेन्द्र वत्स, साठोत्तरी हिन्दी कहानी और राजनीतिक चेतना, 1989, पृ. 82.

सक्रिय कहानीकारों ने जनता को अपने अधिकारों के प्रति सचेत रखने के अपने उत्तरदायित्व को कहानियों के द्वारा निभाया । उन्होंने उस शक्ति के खिलाफ़ लड़ने के लिए जनता को प्रेरित किया जो जनता के अधिकारों को हड़पकर अपने सुख-भोगों के लिए इस्तेमाल करता है । पहले कहा जा चुका है कि सक्रिय कहानी का स्वर शोषण के विरुद्ध है । सक्रिय कहानी ने अपनी कहानियों में जनता को अपने भविष्य के प्रति सतर्क रखना मुख्य दायित्व समझा था । उसने जनता को वर्गगत गुलामी की सही पहचान दी और उसे गुलामी से मुक्ति की राह में आने का आह्वान किया । जनता की मुक्ति ही कहानी का प्रमुख स्वर रहा था और यों मुक्ति पथ पर अग्रसर होने के लिए जनता को प्रेरित भी किया । सक्रिय कहानी की प्रतिबद्धता यही थी कि जनता को शोषण के चंगुल से मुक्ति प्रदान करना । इस कहानी आन्दोलन ने क्रूर व्यवस्था का नकाब उतारने का भरसक प्रयास किया । वर्गसंघर्ष को उजागरित करते हुए शोषणमुक्त समाज व्यवस्था की स्थापना अन्ततोगत्वा सक्रिय कहानी का मकसद था । इसके संबंध में अब्दुल बिस्मिल्लाह ने यों कहा - "कहानी में सक्रियता का अर्थ यह भी है कि इस क्षेत्र में एक मुद्दत से व्याप्त चुप्पी, समझौता परस्ती और आत्मस्वीकार को तोड़ने की कोशिश ।[1] इस कहानी आन्दोलन के केन्द्र में सर्वहारा वर्ग की जीवन स्थितियों को प्रमुखता थी । सर्वहारा वर्ग से विशेष चरित्र को प्रस्तुत करते हुए उसकी जीवन स्थिति की पहचान का अंदाज़ देती रही । याने सर्वहारा को कहानी में पर्याप्त स्थान मिला । सक्रिय कहानी जनता के लिए लिखी गयी है । फलतः परिणति यह निकली कि सडान्ध भरी गलियों में जीवित मनुष्य के जीवन से भी कहानी मिली । याने कहानी को सर्वहारा तक पहुँच मिला । कहानी के ज़रिये जनता को सक्रिय व जागरूक बनाने का प्रयत्न सक्रिय कहानी की सराहनीय उपलब्धि है । सक्रिय कहानी

---

1. डा. अब्दुल बिसमिल्लाह, सक्रिय कहानी, 1980, पृ. 88.

ने सर्वहारा की क्रांति दृष्टि को दार्शनिक व बौद्धिक धरातल से उतारकर व्यावहारिक बनाने का कार्य भी किया । वास्तव में सक्रिय कहानी का सख्त सरोकार सीधे आम जनता के साथ था । सक्रिय कहानी की अवधारणाओं को डा. शंभुनाथ और सुरेन्द्रकुमार ने स्पष्ट किया है । डा. शंभुनाथ के अनुसार - "रचनाकार के रूप में "सक्रियता" का बराबर मतलब है - पहले अपनी सीमाओं को समझना, छपाई तंत्र की सीमाओं को समझना, ऊपर पेशागत वर्गचरित्र को बदलना, लोकशाही तथा निम्नवर्ग के कृषक, मज़दूर, बेगाने भूमिहीन संघर्षशील जनता के पूँजीवादी, फासीवादी, सामंती और उपनिवेशवादी वस्तुओं को पहचानना - फिर रचना के साथ जनक्षेत्र में चला जाना ।[1] सुरेन्द्र कुमार के अनुसार - "सक्रियता का अर्थ मेरे लिए यह है - रचनाकार को रचना की सक्रियता जनता को उसके अधिकारों के प्रति जागरूक करना, उसके वर्ग शत्रु को उसके सामने नंगा करना, वर्गशत्रु द्वारा शोषण के तमाम माध्यमों एवं तरीकों एवं उसके मूल्यों का पर्दाफाश करना एवं उनसे निपटने के लिए शोषित वर्ग को संघटनात्मक तरीके से सक्रिय करना ।[2]

सक्रिय कहानी किसी वाद के बल पर पनपी कहानी नहीं है । लेकिन यह वामपंथी रूझान पर विश्वास करती है । उसका मानना है कि प्रगतिशील रचनाकार स्वयं वामपंथी बन जाता है । आम जनता का लक्ष्य साधकर सक्रिय कहानी आगे चलती है । वह जनता की प्रगति चाहती है । व्यक्तिगत स्वार्थों और लाभों को समाजगत लाभों में बदलने के लिए यह कहानी आन्दोलन दृढ संकल्प रखता है । यह साहित्य को सीधे जनता से जोडने में सक्रिय है । कहानीकार ज़्यादा से ज़्यादा पाठकों तक अपना साहित्य पहुँचाना चाहते हैं ।

---

1. डा. शंभुनाथ सिंह, सक्रिय कहानी की भूमिका, पृ. 24.
2. सुरेन्द्रकुमार, सक्रिय कहानी की भूमिका, पृ. 180.

सक्रिय कहानी शोषण प्रधान मूल्यों के खिलाफ़ ज़ोरदार लड़ाई का आह्वान करती है । आम आदमी के हित में अपना रुख सचेष्ट करती भी है ।

सतीश जमाली, काशीनाथ सिंह, रमेश कुंतलमेघ आदि कहानीकार स्पष्टत: वामपंथी रूझान रखनेवाले कहानीकार हैं । राकेश वत्स, सुरेन्द्र कुमार, रमेश बतरा, सच्चिदानन्द धूमकेतु, अब्दुल बिस्मिल्लाह, कुमार संभव, श्रीकांत, सिरिल मैथ्यु आदि भी सक्रिय कहानी में आनेवाले प्रमुख लेखक हैं ।

इस प्रकार सक्रिय कहानी साधारण मनुष्य की संघर्ष की कहानी कहती है । वह शोषण के विरुद्ध लड़नेवाले आम आदमी की सच्ची तस्वीर भी प्रस्तुत करती है । जनता के साथ संघर्ष में साथ देकर यह कहानी आन्दोलन जनजागरण को प्रमुख मुद्दा मानकर चलता है । आम आदमी को शोषण से मुक्त कराना आखिरकार इस कहानी आन्दोलन का लक्ष्य है ।

चौथा अध्याय

प्रगतिवादी कहानी का प्रवृत्तिगत अध्ययन

मार्क्सवाद के अनुसार किसी भी समाज के सुपरिगठन का आधार उस समाज का आर्थिक ढाँचा है । यानी आर्थिक ढाँचे के अनुसार ही समाज की संस्कृति, सामाजिक ज़िन्दगी व आचार विचार का रूपायन होता है । भौतिक जीवन में उत्पादन का ढंग ही साधारणत: मनुष्य की बौद्धिक ज़िन्दगी को निर्धारित करता है । वस्तु चेतना से रूपायित हो जाती है और चेतना वस्तु को रूपायित करती है । जैसे माओ ने सूचित किया है कि वस्तु ही चेतना है और चेतना ही वस्तु है । वस्तु और चेतना अन्तर्ग्रंथित है ।

दर असल भौतिक संबंधों और बौद्धिक संबंधों में द्वन्द्वात्मकता है । भौतिक ज़िन्दगी के साथ ही भावों, विचारों और चेतना की सृष्टि होती है । भावों विचारधाराओं और अभिव्यंजनाओं की विशिष्टता तथा सीमा सामाजिक वातावरण से संबंधित होते हैं और उनकी प्रकृति प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष वर्गीय प्रवृत्तियों के मुताबिक होती है । दर असल कला का नींवाधार सामाजिक जीवन है । मार्क्सवादी समीक्षक कलाकृति में निहित सामाजिक सत्ता को ही विश्लेषित करते हैं । सभी ने कला या साहित्य के अंतर्गत भाव तत्व की प्रमुखता स्वीकार की है । प्लेखानोव ने भाव-तत्व को ही कला और साहित्य के नियामक तत्व माना । उनका अभिमत है कि भाव के अभाव में कला का अस्तित्व संभव नहीं है ।

भाव तत्व कला एवं साहित्य का नियामक है । कला कृति को उसी के माध्यम से पहचाना जा सकता है । लगभग इसी प्रकार के विचार कॉडवेल ने भी प्रस्तुत किए हैं । उन्होंने सामूहिक भाव को ही कला के सत्य की मान्यता प्रदान की है । वस्तु-तत्व की प्रमुखता का सर्वांगीण व सशक्त प्रतिपादन हमें लुनाचारस्की के चिंतन में भी दिखाई पड़ता है । उन्होंने उसे साहित्य एवं कला का निर्णायक तत्व माना है । इतना ही नहीं उन्होंने भाव की नव्यता तथा मौलिकता पर भी खास बल दिया है । राल्फ फाक्स तथा हावर्ड फास्ट ने भी भाव तत्व की वरीयता स्वीकार की है । हावर्ड फास्ट के अनुसार भाव-तत्व के अभाव में साहित्य या कला का जीवित रहना उसी प्रकार असंभव है जैसे जीवन के अभाव में शरीर का साँस लेना नामुमकिन है । आन्सटे फिशर ने भाव-तत्व और रूप तत्व पर विस्तार से विचार किया है । और भाव तत्व के निर्णायक तथा प्राथमिक महत्व को स्वीकृति दी है । वस्तु या भाव संबंधी उपरोक्त मार्क्सवादी विचार धाराओं के धरातल पर प्रगतिवादी कहानी के भावपक्ष का विश्लेषण करने का विनम्र प्रयास आगे किया गया है ।

इस संदर्भ में भूमिका के रूप में इसका भी जिक्र करना अवश्यंभावी है कि वामपंथी कहानीकारों की सर्जनात्मकता के पीछे एक खास मकसद मशगूल है । उन्होंने सामाजिक परिवर्तन के लिए अपने माध्यम याने कहानी को एक कारगर औजार के रूप में इस्तेमाल करने की जबरदस्त कोशिश की । इसके लिए उन्होंने पहले पूँजीवादी व्यवस्था की निर्ममता, क्रूरता एवं अमानवीयता को कहानी के द्वारा पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करने

का क्रम किया । इस व्यवस्था के अन्तर्विरोधी, विडंबनाओं को उभारते हुए, उसमें परिवर्तन लाने की अनिवार्यता का एहसास भी कराया । यानी ये कहानीकार सामाजिक परिवर्तन के लिए कटिबद्ध एवं प्रतिबद्ध है । इसकी वजह उनकी कहानियों में भावपक्ष की गरिमा अत्यन्त जाहिर है ।

हिन्दी कहानी में आधुनिकता का प्रथम दौर प्रेमचन्द की परवर्ती कहानियों से शुरू होता है । सन् 1936 ई. में प्रगतिशील लेखक संघ के लखनऊ अधिवेशन से वे प्रत्यक्षतः जुड़े रहे थे । लेकिन इससे पहले ही उनकी विचारधारा में मार्क्स के विचारों का प्रभाव पड़ना प्रारंभ हो गया था । अपनी परवर्ती तीन कालजयी कहानियों में प्रेमचन्द जिस अमरता का संचरण कर सके, उसका आधार मार्क्स प्रेरित जनवादी सोच ही है । प्रेमचन्द ने अपने लिए जो कैनवास चुना वह मार्क्सवादी दृष्टि के अत्यन्त निकट है । क्योंकि भारतीय ग्रामीण जीवन की गरीबी के चित्रण करनेवाले कलाकार को सहज ही मार्क्स की विचारधारा के निकट आ जाते हैं । कथ्य की यथार्थता के कारण प्रेमचन्द की कहानियों में मार्क्सवादी सोच जबरदस्ती से ओढ़ी गयी नहीं लगती है । लेकिन गरीबी का चित्रण करते हुए कलाकार जब उस के कारणों के मूल में जाता है तो "वर्गसंघर्ष, की बात स्वतः उसमें निहित रहती है । "पूस की रात", "ठाकुर का कुआँ" तथा "कफ़न" इन तीनों कहानियों के बेजोड़ कहानियाँ बनने का कारण यह है कि इनमें प्रेमचन्द की कला की तीन नींवाधारा खासियतें पुंजीभूत हुई है । प्रथम, गरीबी का अत्यंत प्रामाणिक संवेदनशील वर्णन करने को अद्भुत क्षमता । दूसरा, इस

गरीबी से निष्पन्न वर्ग-संघर्ष की तीव्र भावना है । तीसरा, व्यंग्य की धारदार अभिव्यक्ति की क्षमता ।

इस प्रकार प्रेमचंद की कहानियों में जनवादी चेतना की खुली घोषणा नहीं है । लेकिन एक अंदरूनी प्रवृत्ति के रूप में गहराई तक जमी हुई है ।

G5616

यशपाल की कहानियाँ अपनी दृष्टि में पूरी तरह मार्क्सवादी सोच से प्रभावित है । किंतु उनमें कलात्मक सोच से क्षमता प्रेमचन्द के समान नहीं है । क्योंकि वे मार्क्सवादी सोच को अभिव्यक्त करते है न कि प्रेमचन्द के समान उन जीवन स्थितियों को उकेरते हैं । यानी हम कहानियों में निहित जनवादी चेतना की अभिव्यक्ति के दो रूप स्पष्ट है । प्रथम, प्रत्यक्षत: मार्क्सवादी दृष्टि से प्रतिबद्ध रचनाकार और दूसरे वे रचनाकार जो घोषित रूप में मार्क्स के अनुयायी न होकर भी अपनी कहानियों में जनवादी चेतना को आंतरिक रूप से स्वीकार करते हैं ।

नयी कहानी के दशक में कहानी में यह जनवादी सोच या मार्क्सवादी चिंतन प्राय: कम दिखाई देता है जिसका प्रमुख कारण यह था कि ये कहानीकार अनुभव की प्रामाणिकता से प्रतिबद्ध होकर जीवन की विविध-मुखी अनुभूतियों के चित्रण में मशगूल रहे थे । अधिकांश लेखकों का

राजनीति से कोई विशेष सरोकार नहीं था । किन्तु सन् 1960-1965 ई. के पश्चात् जो कहानियाँ प्रकाश में आयी उनके तीखे स्वर जनवादी चेतना और वामपंथी सोच से जुड़े हुए थे । क्योंकि इस समय देश का राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक परिदृश्य ऐसा रहा कि साहित्यकार का वामपंथी सोच से जुड़ना सहज-स्वाभाविक था । यानी इस दौर में हिन्दी के कहानी लेखक घोषित रूप में जनवादी सोच से जुड़ गए । कहानी प्रेमचन्द के बाद प्रथम बार वामपंथी चेतना में नया उन्मेष आया । कहानी का मूल स्वर मामूली आदमी की मानसिकता, तकलीफ़, विवशताओं, सीमाओं और संभावनाओं से सीधे जुड़ गया । (मामूली आदमी के अंतर्गत प्रमुख रूप से श्रमिक वर्ग आता है जिसकी जीविका का मुख्य आधार श्रम है ।) इस वर्ग का व्यापक प्रतिनिधित्व साठोत्तरी कहानी में हुआ है ।

<u>समाज की दुर्दशा का पर्दाफाश</u>

आज भारत के कोने-कोने के सामाजिक परिवेश इतने दयनीय हो गये है कि उसमें सर्वहारा के हित की आशा तक नहीं की जा सकती है । असल में आम आदमी का जीवन भीषण सामाजिक परिवेश में गुज़र रहा है । उसका अस्तित्व संकट की स्थिति में है और उसे बरकरार रखने के लिए जबरदस्त संघर्ष करना पड़ता है । उसके ऊपर शोषण का जो पंजा फैला है उससे मुक्ति के लिए वे छटपटाता रहता है । शोषक का चंगुल उसे चहु ओर से इस प्रकार जकड़ा रहता है कि वह अपनी प्रतिशोध को भी व्यक्त करने में असमर्थ है । इस असमर्थता के सही कारण खोजने में सन् 1960 ई.

बाद के कहानीकार सहायता पहुँचाने के साथ ही उससे मुक्ति का पथ भी निर्धारित करती है । मिथिलेश्वर की कहानी "मेघना का निर्णय", शोषकों से पीडित मज़दूर वर्ग की दर्द भरी कराह की कहानी है ।

मेघना का निर्णय

मेघना गाँव का मज़दूर है । वह कम पढा लिखा है । गाँव में नौकरी का अभाव, उसे और उसके साथियों को शहर जाने के लिए मज़बूर करता है । शहर में नौकरी देनेवाले "हैड-मिस्तरी" को अपने दैनिक वेतन से दो रूपये कमीशन देना पडता है । एक दफा मेघना और साथियों को एक बडे रेलवे अफ़सर के घर में मकान के मरमत का काम मिलता है । काम पूरा हुआ तो अफ़सर निर्धारित मज़दूरी नहीं देता है । मेघना के नेतृत्व में अफ़सर से निर्धारित मज़दूरी मांगी जाती है । फलत: अफ़सर उसे धमकाता है । यही भी नहीं अफ़सर मेघना के गाँव आकर वहाँ के बाबू लोगों के साथ मिलकर उन्हें दबाने की कोशिश करता है । गाँव के बाबू लोग जो शोषक अफ़सर के समर्थक हैं यों गुर्राते हैं -"डाँटने से काम नहीं चलेगा । तेजासिंह, जोरावर सिंह से आगे बढते हुए गरजे, "मंगाओ रस्सी और सालों को बाँधकर यहीं धूप में मार दो । ये साले गुट बनकर बडे आदमियों से लडने लगे हैं ।"[1] इस पर मेघना संघर्ष के लिए उतारू हो जाता है । दूसरे दिन "कुल्हाडिया" रेलवे स्टेशन पर मेघना सुबह से शाम तक बैठा रहता है । रोज़ की भाँति रातवाली गाडी की प्रतीक्षा में बैठे

---

1. मिथिलेश्वर, मेघना का निर्णय, पृ. 17.

मेघना ने यह निश्चय किया कि वह आज अपने साथियों को रोककर उनका निर्णय लेगा । - "अभी तक उन्होंने कोई निर्णय लिया कि नहीं ? सवाल सिर्फ एक रेल बाबू का नहीं । अपने हक और रोटी के लिए उन सब लोगों के बारे में उन्हें सोचना है, जो रोड़े बनकर सामने उपस्थित हो जाते हैं ।"[1] उनके सामने एकमात्र रास्ता है - अपने हक के लिए बाबुओं से टकराना । उनसे टकराने के बाद बाबू लोग भी आराम से नहीं रहेंगे । उनका चैन-सुख भी खत्म हो जायेगा । फिर वे शहर के मालिकों से मिलकर उन्हें दबाने से भय भी तो खायेंगे । मेघना सोचता है । जब एक छोटी-सी चींटी पाँव पड़ने पर अपनी शक्ति भर काटने से नहीं बाज आती, तब हम फिर मनुष्य होकर क्यों चुपचाप सहेंगे ?"[2] मेघना को लगा कि उसकी इस बात पर उसके सभी साथी तैयार हो जायेंगे । अगर कुछ तैयार भी नहीं होंगे तो कोई फरक नहीं पड़ेगा । कुछ समय के बाद जब लड़ाई छिड़ जायेगी, उन्हें भी तैयार होना पड़ेगा । बिना इसके और कोई रास्ता भी तो नहीं । मेघना ने निर्णय लिया संघर्ष का । कहानी में इसकी स्पष्ट सूचना है - मेघना झाड़कर खड़ा हो गया । पिछले दो-तीन दिनों के बाद आज पहली दफ़ा उसने भरपूर शांति महसूस की । अपने बदन को एक झटका दे वह रेलवे लाइन के उस पार जा खड़ा हुआ । उसने देखा, सिग्नल हो गया था । अब गाड़ी आनेवाली ही थी । वह माथा उठाकर उस तरफ़ दूर तक देखने लगा, जिधर से गाड़ी आ रही थी ।"[3] यहीं कहानी समाप्त होती है । लेकिन मेघना का निर्णय आम आदमी के हक का निर्णय है । अकेला मेघना का नहीं ।

---

1. मिथिलेश्वर, मेघना का निर्णय, पृ. 18.
2. वही, पृ. 19.
3. वही, पृ. 19.

यह कहानी मज़दूरों की दीन व दर्दनीय स्थिति का पर्दाफाश करती है । अपने हक के लिए लड़नेवाले मज़दूर वर्ग की यथार्थ स्थिति इसमें चित्रित है । वर्ग संघर्ष का चित्रण ही कहानी का लक्ष्य है । इसके लिए पहले तनावपूर्ण परिस्थिति को प्रस्तुत किया गया है । फिर संघर्ष की चिनगारी दर्शायी गयी है । यथार्थ के धरातल पर विकसित इस कहानी में वर्गभेद से उत्पन्न दुर्दशा की असलीयत भी ज़ाहिर किया गया है । वर्ग-संघर्ष की असलियत की सही पहचान कराने में मेघना का अंतिम निर्णय सहायक होता है । यद्यपि कहानीकार ने बाहरी तौर पर संघर्ष का चित्रण नहीं किया है फिर भी कहानी पूर्णत: संघर्ष की स्थिति पैदा करने में सफल है ।

लाश

सुभाष पंत की कहानी "लाश" में एक स्कूल मास्टर की मृत्यु दिखाई गयी है । वेतन के अभाव में भूख से तड़पकर मास्टर का अंत होता है ।

मास्टर को बहुत कम ही वेतन मिलता है । परिवार में उनकी पत्नी और एक बच्चा है । कम वेतन भी समय पर नहीं मिलता है । स्कूल के चेयरमान ने तीन महीने से उसे वेतन नहीं दिया । उसके ऊपर एक झूठा इल्ज़ाम लगाता है कि वह चरित्रवान नहीं है । वेतन न मिलने के कारण उसे कर्ज लेना पड़ता है । जहाँ कहीं से कर्ज मिला मास्टर

स्वीकार करता है । लेकिन समय पर चुका नहीं पाता । परिणामतः उसे अपमान सहना पड़ता है । एक दफ़ा एक दुकानदार ने उसका टोपी उतार लिया और उसे बेइज़्ज़त कर दिया । मास्टर स्कूल के चेयरमान के नाम पर कई रजिस्टरी चिट्ठी भेजता है । लेकिन फायदा नहीं हुआ । वह एक दिन चेयरमान से मिलने चला । चेयरमान के ऑफीस के सामने देर तक बैठने के बाद ही मुलाकात हो सकी । चेयरमान ने फरमाया कि उसके खिलाफ जो आरोपें हैं उनका जाँच करने के लिए एक समिति गठित की जायेगी । मास्टर बुरी तरह गरम होता है और चेयरमान के कमरे से बाहर निकलते बेहोश होकर गिर पड़ता है । फिर वह होश संभाल भी नहीं सका । लोग इकट्ठे हुए । उसकी लाश को उठाने की कोशिश की । लेकिन कोई लाश उठा नहीं सका । क्योंकि लाश वहीं ज़मीन पर अटक गयी थी । अंत में अनेक लोग एकत्रित होकर ही लाश उठाते हैं ।

कहानीकार ने सुविधाभोगी और सुविधाहीन वर्ग की खाई को मास्टर और चेयरमैन के ज़रिये प्रस्तुत किया है । मास्टर की जीने की तड़प सिर्फ उसकी अपनी नहीं है, उसके समान अनेकों की है । कहानीकार ने मास्टर की ज़िन्दगी की बारीकियों के चित्रण के द्वारा गरीब जनता की सभी संत्रस्त स्थितियों को प्रस्तुत किया है । मास्टर के सामने ही उसका बेटा जूठी पत्तल खाता है । सचमुच गरीबों की सहायता के लिए कोई नहीं है । एक बार मास्टर की पत्नी सरकार से शिकायत करने की बात कहती है - पानी में रहकर मगरमच्छ से वैर तो किया नहीं जा सकता । फिर मुकदमे-कचहरी के लिए भी तो आदमी के पास पैसा होना चाहिए ।

हम इज़्ज़तदार गरीब हैं । गर्दन झुकाकर चलने में ही अपनी भलाई है ।" तब पति का उत्तर -"तुम सदा से ही समझौते करते आये हो, इसी वजह से हमारी यह हालत है । पर तुम ऐसा नहीं कर सकते कि हमारे लिए चार रस्सियाँ खरीद लाओ..... हम चारों ही उनपर झूलकर आत्महत्या कर लेंगे । जान का क्लेश ही मिट जायेगा । एक तो तीन सौ रुपयों पर सही करके डेढ़ सौ रुपये लाते हो, सो भी बख़्त पर नहीं.... मुँह पर जैसे-सीमेंट जम गया हो । पत्नी तमककर फुफकारती है ।[1] मास्टर चुप रहता है । मास्टर की चुप्पी बेबसीकी चुप्पी है । अपनी दयनीय स्थिति से वह बोल भी नहीं पाता । क्योंकि वह एक इज़्ज़तदार गरीब है । कहानीकार ने मास्टर के माध्यम से सामाजिक विसंगति को गहराई को ही प्रस्तुत किया है । गरीबी से पीड़ित आम जनता आवाज़हीन है । कहानी में मास्टर की त्रासद स्थिति का चित्रण बहुत ही गंभीर और गहरा है -"भूख से एकदम त्रस्त । उसका पेट पीठ से चिपक गया था । उसके गाल घुटनों पर टिके हुए थे और रो-रोकर आँखों के पपोटे सूज आये थे । वह महिला का जूठन के कूड़ेदान में फेंकते देखकर उसका बच्चा फुर्ती से वहाँ पहुँच गया, और कूड़ेदान से जूठन टटोलकर चबर-चबर खाने लगा । मास्टरजी के भीतर एक बिजली-सी कड़की थी, पर उन्होंने असहाय मुँह फेर लिया था । इसके अलावा वे भी क्या कर सकते थे .....?[2]

अंत में चेयरमैन के सामने मास्टर को चीखना ही पड़ा । उसका चित्रण बेहद असरदार है - मास्टरजी एकाएक तड़प उठे । वे बहुत

---

1. सुभाष पंत, तपती हुई ज़मीन, पृ. 13-14.
2. वही, पृ. 16.

चीखकर बोले । इतने चीखकर कि दीवार पर लगा महात्मा गाँधी का कैलण्डर भी हिलने लगा और हिलता ही चला गया - "ये सब झूठी और वाहियत बातें हैं । आप एक गरीब स्कूल मास्टर की रोज़ी-रोटी छीनना चाहते हैं ..... पहले ही आप तीन सौ रुपये देते हैं...... यह शोषण है ...... फिर इतने पैसे से आपके कमरे का एक कालीन भी नहीं आ सकता है ।"[1] चीख से भी शोषक हिलता नहीं । उसकी निर्ममता यहाँ तक है कि किसी भी हालत में वह रहमदिल नहीं होता । इस संदर्भ का चित्रण भी प्रभावशाली है - "वह उसी तरह आराम से बैठा रहा । गुस्से की एक भी रेखा उसके चेहरे पर नहीं खिंची । उसी तरह चुरुट फूँकता रहा और मुस्काता रहा - आप खुद तशरीफ़ ले जायेंगे मास्टरजी या धक्का देने केलिए चपरासी बुलवा जायें ?"[2] जब मास्टर की मृत्यु होती है तब चैयरमैन झूठी सहानुभूति प्रकट करता है -"मास्टरजी निहायत शरीफ आदमी थे । वे परिश्रमी, नेक और ईमानदार थे । ऐसे व्यक्ति को पाकर हम धन्य थे । सचमुच वह आदर्श स्कूल मास्टर थे । उनके आकस्मिक निधन पर हमें हार्दिक खेद है । यह अपूरणीय क्षति है, मैं उनकी यादगार में स्मारक बनाने की घोषणा करता हूँ । तब तालियाँ पिटी ।"[3] मास्टर की मृत्यु के पश्चात् लाश भूमि पर चिपक गयी । इसका यही मतलब है कि बरकरार पूँजीवादी व्यवस्था में आम आदमी की दुर्दशा समाज से चिपकी रहती है । उससे आम आदमी की मुक्ति संभव नहीं । दुर्दशा की लाश को हम उठाकर अलग नहीं कर सकते । इसका संकेत कहानीकार ने इस प्रकार दिया है -"लाश को उठाने का प्रयास फिर हुए । पर व्यर्थ । लाश उठाई नहीं जा सकी ।

---

1. सुभाष पंत, तपती हुई ज़मीन, पृ. 18.
2. वही, पृ. 18.
3. वही, पृ. 19.

धीरे-धीरे प्रदेश के सारे आदमी इकट्ठे हो गये । फिर देश-भर के सारे आदमी जमा हो गये । तब लाश उठाकर कंधे पर रखी जा सकी ।"[1] लेकिन लोग उसके लाश को दफ़ना नहीं पाये । दफ़नाने की असमर्थता इस बात की ओर इशारा करती है कि दीन अवस्था भी आज बरकरार है । अत: "आज भी वह लाश उन कंधों पर हैं...... और सब उसे ढो रहे हैं ।"[2] बेबसी का भार आज भी आम आदमी ढो रहा है । कहानीकार ने निर्मम शोषण से मुक्ति की राह तो नहीं दिखाई हैं । राह की खोज हमें करनी हैं । याने कहानी हमें सोचने के लिए मजबूर करती है ।

साठोत्तरी कहानी अपनी सर्जनात्मक उपलब्धियों से कहानी के मूल ढाँचे में परिवर्तन करती हुई नयी ज़मीन की तलाश में है । उसके सोच, मानसिकता और जीवन बोध में गहरा परिवर्तन नज़र आता है । कहानी समय से प्रभावित और कालांकित है । परिवेश में जीवित और वास्तविक व्यक्तियों की ओर उन्मुख यह कहानी साहित्य व्यक्तियों की ओर उन्मुख है और साथ ही साथ परिवर्तन में वर्तमान काल का बोध जगाती है । यह बोध समकालीन ही हो सकता है, पूर्ववर्ती नहीं हो सकता । इस दौर का कहानी साहित्य आम आदमी की मानसिकता, तकलीफ़, विवशता, सीमा, संभावना आदि का तटस्थ अंकन करता है । इसमें अपनी समस्त दुर्बलताओं, विवशताओं और विसंगतियों में जीता-जागता मामूली आदमी आंकता नज़र आता है ।

---

1. सुभाष पंत, तपती हुई ज़मीन, पृ. 19.
2. वही, पृ. 19.

सीने में उभरता दैत्याकार दरवाज़ा

सुभाष पंत की और एक कहानी है "सीने में उभरता दैत्याकार दरवाज़ा" । इसमें शहर के परिवेश में रहनेवाले लोगों की दुर्दशा का पर्दाफाश किया गया है । प्रेमी और प्रेमिका, दोनों बेरोज़गार हैं । दोनों सडक पर चल रहे हैं । दोनों भूखे हैं । प्रेमिका की माँ आस्पताल में बीमार पडी है । उसे टेटनस हो गया है । उसे इंजक्शनों की ज़रूरत है । उसके पास पैसे नहीं है । प्रेमिका को अंत में अपने प्रेमी के सामने उसकी अनुमति से वेश्यावृत्ति करनी पडती है पैसे के लिए । वह एक दैत्याकार दरवाज़े के अंदर घुस गयी । कुछ देर बाद वह दैत्याकार दरवाज़ा खुली । वहाँ से वह थकी हारी लौट आयी - मुट्ठि में कुछ रूपये दबाये । तब प्रेमी सोचता है -"उसके पास ऐसी चीज़ है, जिससे आसानी से रोटी मिल सकती है ।"[1] दोनों होटल से खूब खाते हैं । काऊंटर में पैसा चुकाकर घने होते कोहरे में खो गये ।

इस कहानी में कहानीकार ने बहुत ही निर्ममता से असलियत का चित्रण किया है । हमारे समाज का संवेदनशील युवा पीढी भूख की चपेट में ऐसी अनैतिक ज़िन्दगी के लिए मज़बूर है जिसका विकल्प तक वाकई नामुमकिन है । भूख का कारण दुर्निवार समझायी जानेवाली व्यवस्था है । उन्हें बेरोज़गार छोडकर उनकी बेबसी का शोषण करती है । दैत्याकार दरवाज़ा सुविधाभोगी शोषक वर्ग की नृशंसता का प्रतीक है ।

---

1. सुभाष पंत, तपती हुई ज़मीन, पृ, 69.

सपने की गलियारे में आग

मधुकर सिंह की कहानी "सपने की गलियारे में आग" में कवि "बटेश्वर" को सांस्कृतिक कार्य में भाग लेने के कारण जेल जाना पडता है। उसमें और एक पात्र जनार्धन सिंह है जो कम्यूनिस्ट कहे जाते हैं लेकिन कांग्रेज़ी के पक्षधर है। लोगों को डराकर रखते हैं। वह ग्रामीणों को दबाने के लिए पुलीस का उपयोग करता है।

नरेश बाबू, शहर से गाँव आये हैं। वह सुधारक है, लेकिन उनकी कथनी और करनी में अंतर है। वह अपने नौकर और कुत्ते के लिए मोटा चावल देते हैं और स्वयं परिवार के साथ बसमति चावल खाता है। आम आदमी की ज़मीन वीरान करने में सत्ता का हाथ बंटाता रहा। इस प्रकार ज़मीन्दारों की मिली भगत और उनके द्वारा आज आदमी के शोषण की दर्दभरी दस्तान है - यह कहानी।

तपती हुई ज़मीन

इस दौर की कहानियों की मामूली आदमी के प्रति गहरा सरोकार द्रष्टव्य है। सचमुच ये कहानियाँ समकालीन का दस्तावेज़ है। अनुभवों के ताप से जीवन-स्थितियों और उनमें जीवित पात्रों को कहानीकारों ने सृजन किया है। इसलिए उनकी कहानियों में मामूली आदमी, याने

श्रमजीवि वर्ग अपनी समस्त कमज़ोरियों, अंतर्विरोधों और विसंगतियों के साथ जीवंत हुआ है ।

सुभाष पंत की कहानी "तपती हुई ज़मीन" में मशीनीकरण से उत्पन्न मज़दूरों की समस्या उठायी गयी है । इस कहानी का केन्द्रीय पात्र मशीनीकरण की वजह से फाक्टरी से निष्कासित होता है । वह संकट की स्थिति में है । क्योंकि उसका परिवार उसके वेतन पर निर्भर है । बड़े लड़के की पढ़ाई, छोटी लड़की की शादी और बीमार पत्नी के लिए दवा की खर्च आदि सब वेतन पर निर्भर है ।

वह बिलकुल बेबस था । क्या करे, क्या न करे, इस स्थिति में उसे लाचार होकर अपनी नौकरी को बचाने के लिए रात में एक "कालगेल" को अपनी बेटी कहकर जी.एम् को सौंपना पड़ता है । आज का कहानीकार जीवन के बदलते संदर्भों, दबावों और जटिल समस्याओं को पहचानकर उनसे जूझ रहा है । इस प्रक्रिया में जो अनुभव और संवेदनाएँ उसे मिल रही हैं, उन्हें एक शक्ति के रूप में प्रयुक्त और व्यक्त कर रहा है । ये समस्यायें जो है उनपर आज लिखने की काफी संभावनाएँ हैं ।

श्रीमानजी

सुभाष पंत की और एक कहानी है "श्रीमान जी" । इसमें भी मज़दूरों की दुर्दशा दिखाई गयी है । परिवार की आर्थिक तंगी

से मुक्ति के लिए बेटे को भी बाप के साथ काम करना पड़ता है । वह एक सिनेमा हॉल बनाने के काम में अनधिकृत मज़दूर के रूप में नियुक्त होता है । काम करते समय एक दुर्घटना होती है उसके दोनों पैर टूट जाते हैं । बहुत से लोग मर भी जाते हैं । उसके बाप भी मर जाते हैं । बेहोश की स्थिति में उसे ठेकेदार के लोग कहीं ले जाते हैं । जब होश आया तब उसे पता चला कि एक गाड़ी में उसे कहीं ले जा रहे हैं । साथ बैठे लोगों की बातचीत से पता चला कि वे उसकी हत्या करने ले जा रहे हैं । क्योंकि वह अनधिकृत मज़दूर है इसलिए कंपनी को कोंपनसेशन देना पड़ेगा । बेहोशी की स्थिति में उसकी हत्या हो जाय तो कोई बात नहीं थी, लेकिन चेतना की हालत में मौत की संत्रस्तता झेलते हुए वह मर जाता है ।

इस प्रकार सन् 1960 ई. से लेकर सन् 1980 ई. तक की कहानियों में कहानीकारों ने समाज की दुर्दशा का पर्दाफाश करने के लिए सामाजिक जीवन की यथार्थ स्थितियों का रेखांकन किया है । वर्ग विभाजित समाज के जीवन की असंगतियों के चित्रण के द्वारा आम आदमी की साहसिकता, आत्मविश्वास, और जूझने की शक्ति को जबरदस्ती से मिटाने की कोशिशें भी अपने आप उद्घाटित हो गई है ।

वास्तव में इस दशकों में कहानी में ही नहीं संपूर्ण साहित्य में व्यापक परिवर्तन द्रष्टव्य है । साहित्य को परिवेश की वजह एक अलग पहचान स्वीकार करनी पड़ी थी । व्यक्ति पक्ष की अपेक्षा समष्टि चिंतन

को वरीयता मिली थी । लोगों की जीवन स्थितियों में इतनी असंगतियाँ भरी थीं कि उनको शुद्ध कलावादी साहित्य से कोई मतलब ही नहीं रहा । जैसे सुचित किया - निषेध का स्वर इस समय की कहानी साहित्य में सर्वत्र सुनाई पड़ता है । आम जनता के जीवन को साहित्य में स्थान मिलने लगा, साथ ही साहित्य के ज़रिये उनके जीवन सत्यों का उद्घाटन भी हुआ । सचमुच इन दो दशकों की कहानियाँ व्यापक जीवनानुभव की कहानियाँ हैं । इसलिए इनमें अनुभूति की सच्चाई, गहराई और प्रामाणिकता अपने आप आ गयी है । इतना ही नहीं वैचारिक सक्रियता और ईमानदार संवेदना का निर्वाह भी हुआ । डा. सरब जीत के शब्दों में -"यह कहानी संश्लिष्ट वैचारिक-सामूहिक यथार्थ को उघाड़ती है तथा विसंगतियों का पर्दाफाश करती हुई किसी निर्णायक बिन्दु तक पहुँचती हुई प्रतीत होती है । यह निर्णायक बिन्दु कोई आदर्श बिन्दु नहीं बल्कि यह आज की कहानी का वह बिन्दु है जो पाठक को झकझोरता है, उसे इन्सानी स्तर पर चेताता है, गलत और सही बेईमानी और ईमानदारी की पहचान कायम करने का एकमात्र सांकेतिक नज़रिया देता है ।"[1]

आम आदमी की रोजमर्रा की ज़िन्दगी, उससे जुड़ी समस्याओं और संघर्षों को कहानी के केन्द्र में रखकर उकेरा गया । कहानीकारों ने वर्ग-संघर्ष तथा राजनीतिक संघर्ष को समान रूप में प्रमुखता दी । कहानी की चेतना क्रांतिधर्मी पहुँचानेवाली मानव के अस्तित्व पर आघात पहुँचानेवाली किसी भी प्रकार की शोषक व्यवस्था का विरोध करती है, चाहे वह

---

1. सरबजीत, आठवें दशक की हिन्दी कहानी, पृ. 26.

सामन्तवादी, पूँजीवादी, साम्राज्यवादी तथा छद्मवेशी साम्राज्यवाद ही क्यों नहीं । कहानी देश के बहुसंख्यक वर्ग किसान, मज़दूर और मेहनतकश सर्वहारा वर्ग के हितों के लिए इंकलाबी संदेश देने लगी । इसने आम आदमी की समस्यायें और उनकी बदतर स्थितियों को ईमानदारी से प्रस्तुत किया । साथ ही साथ आम आदमी का शोषण करती व्यवस्था के खिलाफ संघर्ष और व्यवस्था परिवर्तन के सामूहिक संघर्ष को प्रश्रय भी दिया गया ।

शोषण का विरोध

प्रगतिवादी कहानीकारों ने जान बूझकर शोषण का विरोध करने के लिए कहानी का इस्तेमाल किया है । उन्होंने अवसरों को खोने नहीं दिया है । "पत्थर की लकीरें" इस बात का जीवन्त मिसाल है ।

पत्थर की लकीरें

बाबा हरदयाल अपनी पत्नी की मृत्यु के बाद अकेला जी रहा था । उसकी ज़िन्दगी एक अजीब ढंग से बीतने लगी थी । गाँव की मुखिया "सखीचंद" ने मज़दूरिन फुलिया गर्भवती बना दिया । उसका चपरासी पति जो साल में दो तीन बार ही गाँव आता था । उस बार जब आया तो फुलिया को गर्भवती जानकर उसे पीटकर घर से निकाल दिया । फुलिया रो-धोकर सखीचन्द के घर पहुँची तो उसने अपने आदमियों से पिटवाकर उसे तत्काल ही वहाँ से भगा दिया । रोती-

बिलखती हुई फुलिया सारी बातें हरदयाल से बताती है । हरदयाल उसे लेकर सखीचन्द के घर पहुँचता है और गरजने लगता है -"साले सखीचंद, जिस तरह तुमने फुलिया को बेइज़्ज़त किया है उसी तरह तुम्हें अपने घर में इसे रखना होगा..... इसे नहीं रखोगे तो इसी गँडासे से तुम्हारी हत्या करूँगी ।"[1] अपनी खिडकी से झांकते हुए सखीचंद बुरी तरह काँप रहा था । जान बचाने का कोई भी रास्ता उन्हें नहीं दिख रहा था, क्योंकि बादा हरदयाल अपने असली रूप में सामने आ गया था । मान मर्यादा और इज़्ज़त के डर से सखीचंद ने फुलिया को अपने घर में तो आश्रय नहीं दिया, लेकिन एक अलग कोठरी में उसे रहने की व्यवस्था कर दी और आजीवन उसकी खोरिश (खान-पान) देना मंज़ूर कर दिया ।

इस कहानी में उच्च वर्ग के पुरुषों तथा नीच वर्ग की निरीह स्त्रियों के यौन शोषण का बेबाक चित्रण करने के साथ ही, एक हद तक इस समस्या का समाधान भी दिखाया है । यदि कोई इस अन्याय के खिलाफ आवाज़ उठाने के लिए तैयार हो जाय तो स्थिति बदलाव आ जाता है । कहानीकार यही बताना चाहता है कि समस्या का समाधान दर असल संघर्ष ही है ।

साठोत्तरी कहानियाँ सर्वहारा वर्ग का शोषण करती पूँजीवादी प्रवृत्तियों तथा भ्रष्ट राजनीतिक व्यवस्था का तीखा विरोध

---

1. मिथिलेश्वर, माटी की महक, पृ. 86.

करती है । मजदूर तथा किसान वर्ग के बदतर जीवन स्थितियों को उकेरने वाली बहुत-सी कहानियाँ इस दौर में प्रकाश में आयी जिसमें शोषण-तन्त्र के विरुद्ध जन-आक्रोश तथा जनसंघर्ष का चित्रण हू-ब-हू हुआ है । रचनाकारों ने अपनी कहानियों में विशेषत: इस बात को ज़्यादा लक्ष्य किया कि सर्वहारा वर्ग जो घोर शोषण, अनास्था और तनाव के जीवन जी रहे हैं उसे परिवेशजन्य वास्तविकताओं में देखकर, उन्हें निराशामूलक स्थितियों से उबारकर मानवीय ओज एवं आस्था के साथ प्रस्तुत किया जाय । वास्तव में साठोत्तरी हिन्दी कहानी अपराजित मानव को केन्द्र में रखकर उसे प्रगति के पथ पर अग्रसर होने को दिया ।

शोषण की समस्या

इस दौर की कहानीकारों की कहानियों में शोषण की समस्या को यथार्थ के परिवेश में चित्रित किया गया है । शोषण प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से आम जनता के ऊपर एक जाल के समान पड़ा हुआ है । शोषण के संबंध में ग्रांशी का कथन यहाँ याद करने योग्य है । उनका कथन है कि जब आम आदमी की अपनी भाषा तक उससे हड़प ली गई हैं तभी उसपर शोषण का आधिपत्य पूर्ण होता है ।

यद्यपि पूँजीवादी व्यवस्था जनतंत्र और समाजवाद के नाम पर शासन कर रही है फिर भी शोषण पूँजीवादी व्यवस्था की नींव है ।

करती है । मज़दूर तथा किसान वर्ग के बदतर जीवन स्थितियों को उकेरने वाली बहुत-सी कहानियाँ इस दौर में प्रकाश में आयी जिसमें शोषण-तन्त्र के विरुद्ध जन-आक्रोश तथा जनसंघर्ष का चित्रण हू-ब-हू हुआ है । रचनाकारों ने अपनी कहानियों में विशेषतः इस बात को ज़्यादा लक्ष्य किया कि सर्वहारा वर्ग जो घोर शोषण, अनास्था और तनाव के जीवन जी रहे हैं उसे परिवेशजन्य वास्तविकताओं में देखकर, उन्हें निराशामूलक स्थितियों से उबारकर मानवीय ओज एवं आस्था के साथ प्रस्तुत किया जाय । वास्तव में साठोत्तरी हिन्दी कहानी अपराजित मानव को केन्द्र में रखकर उसे प्रगति के पथ पर अग्रसर होने को दिया ।

शोषण की समस्या

इस दौर की कहानीकारों की कहानियों में शोषण की समस्या को यथार्थ के परिवेश में चित्रित किया गया है । शोषण प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से आम जनता के ऊपर एक जाल के समान पड़ा हुआ है । शोषण के संबंध में ग्रांशी का कथन यहाँ याद करने योग्य है । उनका कथन है कि जब आम आदमी की अपनी भाषा तक उससे हड़प ली गई हैं तभी उसपर शोषण का आधिपत्य पूर्ण होता है ।

यद्यपि पूँजीवादी व्यवस्था जनतंत्र और समाजवाद के नाम पर शासन कर रही है फिर भी शोषण पूँजीवादी व्यवस्था की नींव है ।

आर्थिक शोषण आम जनता पर हर किसान, मज़दूर, सरकारी कर्मचारी, नारी आदि सब शोषण के शिकार हैं ।

पुल

सतीश जमाली की कहानी "पुल" शोषित मज़दूरों की करुण कहानी है । पुल बनाने के लिए मज़दूर दिन-रात मेहनत करते हैं । पुल तैयार हो जाता है लेकिन मज़दूरों को रहने के लिए अपना मकान नहीं है । "पुल" इसमें एक कारगर प्रतीक है । स्व कथन शैली में लिखी गयी इस कहानी का कथाकार सोचता है - "जिस दिन यह पुल तैयार हुआ होगा और जिन मज़दूरों ने इसपर काम किया होगा उनमें से कई बाद में अपाहिज बनकर या भिखमंगों की शक्ल में इस पुल पर आ बैठे होंगे । जैसे उस पता है ज्यों-ज्यों यह महानगर फैलता जा रहा है जो बडी-बडी इमारतें और नई-नई कालोनियाँ बन रही हैं उन्हें बनाने वाले मज़दूर अपनी झोंपडियों को एक स्थान से उखाडकर नगर के बाहर ले जाते हैं और फिर उन्हीं झोंपडियों से वे भिखारी और अपाहिज बनकर इस पुल पर या इन्हीं कालोनियों और बडी-बडी इमारतों में मांगने आते हैं । उसे याद है, लगभग दो वर्ष हुए । वह गर्मियों की एक रात थी और एक ट्रक ने इसी पुल के फुटपाथ पर सोये हुए मज़दूरों या भिखमंगों को कुचल दिया था । ऐसा महानगर के सभी लोगों ने सुबह समाचार पत्रों में पढा था ।"[1] सोनेवालों का चित्रण कहानीकार इसप्रकार किया है -"पता नहीं वे कौन थे । मज़दूर या भिखमंगे

---

1. सतीश जमाली, प्रथम पुरुष, पृ. 13.

या कोई और । छोटा-सा चबूतरा था और इतने सारे लोग वहाँ आपस में जुड़े हुए पड़े थे और शायद गहरी नींद में सो रहे थे । किसी की पीठ किसी के पेट के साथ मिली हुई थी और किसी का पेट किसी के सर के साथ जुड़ा हुआ था । लगभग, सभी की टाँगें और बाहें एक दूसरे की टाँगों और बाँहों में घुसी हुई थी और सब गडमड अवस्था में बेखबर सो रहे थे । इन्हीं मज़दूरों और अपाहिजों के ऊपर ट्रक चढाकर उनकी हत्या की गई थी ।[1]

पूँजीवादी व्यवस्था कितना बेरहम है और यह व्यवस्था मज़दूरों की ताकत चूसकर उन्हें किस हालत में पहुँचा देती है, इसका बहुत ही असरदार ढंग से कहानी में चित्रण हुआ है ।

एक और हत्या

मिथिलेश्वर की कहानी "एक और हत्या" में ज़मीन्दारी शोषण की विकराल स्थिति को दर्शाया गया है । "जगेसर" अपने मालिक के घर जानवर-सा काम करता है । जितना भी काम करे फिर भी मालिक से गाली मिलती है । एक दिन वह बाज़ार में सामान खरीदने गया तो एक पागल कुत्ते ने उसके बायें घुटने के नीचे काटा । वह इस बात पर बेफ़िक्र है, क्योंकि बाज़ार से लौटने में यदि देर हो जाय तो मालिक की गालियाँ सुननी पड़ेगी । वह जल्दी-जल्दी बाज़ार से लौट पड़ा । राह में

---

1. सतीश जमाली, प्रथम पुरुष, पृ. 14.

चलते वह मालिक की गाली याद करता है -"साले, तुम्हें पचीस रुपये महीना, नाश्ता, कपड़ा और खाना क्या इसलिए देता हूँ ? यह तुम्हारी आज की आदत नहीं, बल्कि रोज़ की है । एक तो तुम लेट बाज़ार जाते हो, दूसरे आते भी हो लेट । इसपर भी एक न एक सामान छोड़ ही देते हो । इधर भैंस छटपटा रही है । एक नाद भी सानी नहीं दिया गया है इसे । तुम्हारी सब हेकड़ी अब जल्दी ही खत्म करूँगा । कहीं से खोजकर मेरा सब रुपया लौटा जाओ । देखेंगे, तुम कहाँ जाकर बाबू बनते हो । कौन रखेगा तुम जैसे देहचोरे को ? मुझे तो खेती गृहस्थी करनी नहीं है । सब बन्दोबस्त कर देता हूँ । दूध के लिए एक भैंसा रखा है, तो उसके लिए हज़ारों चारवाह हैं । पर देखूँगा, कौन देता है एक भैंस पर तुम्हें पचीस रुपया ।[1] और उनकी भाषा पूर्णतः गालियों की भाषा में तब्दील हो जाती है - "हमें चूतिया बनाते रहे हो ।.... गुर्रा-गुर्राकर ताक रहे हो । बहन..... साले मारते-मारते पीठ की चमड़ी उधेड़ लूँगा । भुना-भुना रहे हो हरामी, तुम्हारी लड़की......."[2] और वह भी एक सुर से घंटों गालियाँ देते रहता है । उसकी पत्नी या लड़की अगर गली से आ रही होती तो वे गालियों की रफ्तार और तेज़ कर देता है । इस संदर्भ में जगेसर का सारा व्यक्तित्व चिनगारियों की तरह सुलगाने लगता है और मालिक जबड़े तोड़ देने के लिए उसकी मुट्ठियाँ अनायास ही भिंज जाती हैं । लेकिन कहीं और किसी बिन्दु पर मालिक के आतंक के जाल से वह अपने को बरी नहीं पाता । शायद अपने अन्दर के इंसानियत को भी वह दम घोंटकर पी जाता है ।

---

1. मिथिलेश्वर, माटी की महक, पृ. 56.
2. वही, पृ. 17.

जगेसर अक्सर बाज़ार से आने में जब-जब लेट होता है, मालिक उसे पुलिया पर ही मिलता है, और पुलिया से लेकर घर तक गालियाँ सुनाते हुए साथ आता है । शुरू शुरू में जब वह जवान था, ये गालियाँ उसे बेहद तीखी लगती थीं । वह लड़ बैठता था । फलस्वरूप बुरी तरह उसकी पिटाई होती थी तथा उसे मालिक बदलना पड़ता था । लेकिन एक मालिक से दूसरे मालिक और दूसरे मालिक से तीसरे मालिक और तीसरे मालिक से चौथे मालिक बदलने पर भी उसे शांति नहीं मिल पाती थी, ढंग से ज़िन्दगी जी सकने के लिए वह तरसता रहता था । जैसे कहानी में लिखा गया है - "वह पुलिया पर खड़े हरपाल सिंह के बिलकुल समीप से गुजरने लगा । आदतन हरपाल सिंह ने शुरू कर ही दिया, "क्यों, रे, जगेसरा, तेरी आदत छूटेगी नहीं ?" फिर गालियों की वर्षा थी । वह चुपचाप गालियाँ और धमकियाँ सुनता हुआ दरवाज़े पर आया । घर आकर मालिक का बड़का बबुआ के पैर पर तेल लगाने लगा । उस समय अचानक बुधिया (नौकरानी) की निगाह जगेसर के घुटने के नीचे जा पड़ी । वह पूछ ही तो देती, पैर में क्या हो गया, जगेसर ? जगेसर ने कहा - बाज़ार में कुत्ते ने काट लिया था, बुधिया ।" "हें हें हें हें ।" हरपालसिंह हँसते हैं । अब तो देह चुराने का तुम्हें बार आर बहाना मिल गया ।" पागल कुत्ता था मालिक ...."। तब हरपाल सिंह ने कहा, तो क्या हो गया । तुम लोगों को थोड़े ही कुछ होता है । भगवान भी तुम्हीं लोगों पर खुश रहते हैं ।" "इनार झांक लेना, जगेसर । सात इनार झांक लेने पर कुत्ते का विष उतर जाता है ।"[1] बेटे के पैर पर मालिश के बाद वह हरपालसिंह के पैर पर मालिश करता है । घर जाने के लिए जल्दी करने पर हरपालसिंह निर्मम गाली देता है -

---

1. मिथिलेश्वर, माटी की महक, पृ. 60-61.

"इतना हडबडा क्यों गये हो ? क्या कहीं गाडी छूट रही है ? जिसका नमक खाया जाता है, आजीवन उसकी सेवा की जाती है ।"[1] रात के करीब दस बजे उसे फुरसत मिलती है । घर में पत्नी के पूछने पर वह कहता है - "कुछ नहीं बाज़ार में एक बैलगाडी पर बाँस लदा जा रहा था, उसी से खरोंच लग गयी ।"[2] रात भी वह बीती घटनाओं को याद करते-करते सो नहीं पाता हैं । इतने में पौ फट गयी । तब उसे -"हरपालसिंह की बड़ी-बड़ी आँखें बिलकुल पास घूरती-सी जान पड़ने लगती है । वह ऊपर से नीचे तक पूरी तरह सिहर जाता है । भैंस खोलने का समय बीता जा रहा है । फुर्ती से उठते हुए वह हरपालसिंह के घर की ओर भागता है । हरपालसिंह आंगन में ही चौकी पर बैठा था । वह चुपचाप भैंसवाले घर में जाकर खूटे से भैंस का पगहर खोलने लगता है । हरपाल गालियाँ शुरू करता हैं । रात भर मेहरिया के पास मज़ा मारने से मन नहीं भरा ।......?

निरीह मज़दूरों के शोषण का बहुआयामी चित्रण मिलता है । कहानी में शोषण का यथार्थ रूप हू-ब-हू उभर आया है जो शीर्षक की सार्थकता का भी द्योतक है । किसी भी हालत में जीने के लिए अभिशप्त सर्वहारा वर्ग बदत्तर की स्थिति को उसकी असली पहचान के साथ प्रस्तुत करने में कहानीकार सक्षम हुए हैं ।

---

1. मिथिलेश्वर, माटी की महक, पृ. 61.
2. वही, पृ. 62.

बंद रास्तों के बीच

मिथिलेश्वर की और एक कहानी है "बंद रास्तों के बीच" । इसमें भी शोषण का एक दूसरा पहलू दिखाया गया है । इसमें एक बनिहार जगेसर के स्वप्न का निर्मम अंत दिखाया है और साथ ही साथ उस पर जकड गए शोषण के पंजे को दर्शाया भी है । जगेसर अपने मालिक से मुक्ति चाहता है । उसके घर के पास की कच्ची सडक पक्की बननेवाले थी । सडक के किनारे एक भडकी खोलकर स्वतंत्र जीवन बिताने की इच्छा उसके मन में हुई । वह अपने इस कार्य के लिए परिश्रम करता है और इस बात पर घर की लोग खुश भी होते हैं । वह खाना खाने के बाद बीडी सुलगाकर सोचता है -"अब रात भी अपनी नहीं होती है । दिनभर मालिक का काम करो और रात में उनके बलिहान में सोओ । मर मरकर फसल उपजाओ । रात में चोरों से उसकी रक्षा करो । फिर सारी फसल मालिक के घर पहुँचा दो । मालिक आराम की ज़िन्दगी गुज़ारेंगे । गालियों से बात करेंगे, और बदले में उस जैसे बनिहारों को सिर्फ जीने के लिए खाने का इंतजाम कर देंगे, ताकि अगले साल तक वह मरने न पाये और पुन: फसल उगाकर, चोरों से उसकी रक्षा कर, उनके घर पहूँचा दे । बनिहारों की यातनापूर्ण ज़िन्दगी अंत तक नहीं बदलती है । इसी ज़िन्दगी के बीच उनका जीना होता हैं और इसी ज़िन्दगी के बीच वे यहाँ से रुखसत हो जाते हैं । लेकिन उसके साथ यह सबकुछ नहीं होगा । उसके पुरखे बहुत चालाक थे । वे ईश्वर के भक्त थे । उन्हें "आगे-पीछे" सबकुछ नज़र आता था । उन्होंने जानबूझकर सडक के किनारे मडई बनायी थी । वे जानते थे कि एक दिन यह सडक बनेगी । इस मडई का भाग्य भी पलट जायेगा ।

---

1. मिथिलेश्वर, माटी की महक, पृ. 70.

असल में, जबसे जगेसर का राशन कार्ड बना है तब से मालिक ने उसे अपने लिए रख लिया है, यह कहकर कि तुम बनिहार-चरवाह चीनी लेकर क्या करोगे ? उसके हिस्से की चीनी कोटा मालिक खुद ले लेता है और अपनी ज़रूरत पड़ने पर जगेसर को ब्लैक से चीनी खरीदनी पड़ती है । एक दिन मड़ई की बात अपनी जाति के लोगों तक पहुँचाने के कारण मालिक के घर पहुँचने में देर हो जाती है, तब "इधर मालिक आगबबूला हो उसकी राह देख रहे थे । उसके आते ही गरज पड़े थे, "जगेसर समय से काम करना हो तो काम करो, अन्यथा सूद समेत मेरे रुपये वापस लौटा दो । मैं कोई दूसरा बनिहार रख लूँगा । लगता है, सड़क क्या बन रही है, तुम लाट होते जा रहे हो ।" इसपर जगेसर मुँह तोड़ जवाब देता है - ठीक है । मैं आप के रुपये लौटा दूँगा ।"

लेकिन मड़ई तैयार होने पर अधिकारी लोग कह देते हैं कि यह सरकारी ज़मीन है जहाँ जगेसर की मड़ई बनी है । आज के सातवें दिन बाद सड़क का उद्घाटन है । ऊपर से ऐसा आदेश आया है कि सड़क के दोनों किनारों के दस फीट सरकारी ज़मीन में कोई घर नहीं रहेगा । सुनते जगेसर गश खाकर गिर पड़ता है उसका कंठ बंद हो जाता है । वह चन्द्रक्षणों के मेहमान के रूप में तब्दील हो जाता है । उसके सामने ही मड़ई मलबे के रूप में परिवर्तित भी हो जाती है । अब उसके लिए दुनिया के सारे रास्ते बंद हैं ।

सत्ता और सफेद पोशीवर्ग आम आदमी के प्रति कैसे

पेश आते है, उन्हें किस हद तक पीडा दी जाती है, यानी सभी प्रकार के दुर्निवार अत्याचारों को कहानीकार ने प्रस्तुत किया है ।

जीने के लिए

मिथिलेश्वर की एक दूसरी कहानी है "जीने के लिए" । इसका विषय यौन शोषण है । हमेशा उच्च वर्ग के पुरुष नीच वर्ग की स्त्रियों का यौन शोषण करते आये हैं ।

झुनिया के माँ-बाप मर गये थे । मनरा उसका एकमात्र छोटा भाई था । झुनिया का मालिक उसके साथ मनमानी करता था । बीमारी के संदर्भ में भी उसे मालिक के बुलावे पर जाना पडता है । झुनिया के मन में उसके प्रति सख्त रोष है । वह सोचती है -"कौन इस गाँव में उसकी बपौती जायदाद ? कमाती है तो खाती है । तो इस तरह से तो कहीं कमा खा लेगी । रही शादी ब्याह की बात, तो कौन बडों की औरतों की तरह दुलहन बनकर घर में बैठना है उसे । जहाँ कहीं भी जायेगी खुद कमाकर खायेगी तो फिर कर लेगी किसी से शादी । रह लेगी किसी के साथ । इस कसाई से जान तो छूट जायेगी । लेकिन मनरा ? एक सवाल खडा हो जाता है उसके सामने । मनरा का क्या होगा ।" मनरा भी मालिक के घर में चरवाहा का काम करता था । मालिक की बेटी उसके साथ मनमानी करती थी । रात में सब लोगों के सोने बाद वह मनरा के

पास आती थी । बीमारी के बावजूद भी वह मनरा को छोडती नहीं थी । एक दफ़ा मनरा ने उसे ठुकरा दिया तो अगले दिन ही मालिक की बेटी ने झूठी आरोपों में उसे फँस दिया । उस दिन मालिक ने मनरा को खूब पीटा भी । यदि मालिक की मनमानी को झुनिया ठुकराती तो पिटाई मनरा को ही मिलती थी ।

एक दिन रात में झुनिया को लेकर मालिक अपने घर के बैठक में पहूँचा तो वहाँ किसी की उपस्थिति जानकर टॉर्च जलाता है । वहाँ मनरा और अपनी बेटी "नीरू" को आलिंगनबद्ध देखा । सब आवाक् रह गये । मनरा कमरे से बाहर निकला । झुनिया भी बाहर आयी । दोनों चुपचाप घर की ओर चलने लगे ।

उच्च वर्ग के पुरुष ही नहीं स्त्री भी यौन शोषण के मामले में कम कसूरवार नहीं है । इस कहानी में नीरू किस हद तक मनरा को शोषण करता है, वह किसी पुरुष से कम नहीं है । ऐसा लगता है नीच वर्ग का हर तरह शोषण उच्च वर्ग का अपना हक है जिसके खिलाफ आवाज़ बुलंद करने में नीच वर्ग अब तक सक्षम नहीं हुआ है । नीच वर्ग की इस बेबसी का खुला चित्रण कहानी के अंत में संभव हुआ है ।

तिरिया जन्म

मिथिलेश्वर की ही कहानी "तिरिया-जन्म" में नारी

शोषण के एक और प्रसंग को प्रस्तुत किया गया है । इसके ज़रिये मौजूदा सामाजिक व्यवस्था में नारी के ऊपर किये जानेवाले अत्याचार का पर्दाफाश भी किया गया है । अत्याचार का मूलकारण एक ओर अर्थाभाव है तो दूसरी ओर पुरुष का आधिपत्य है । तिरिया जन्म कहानी का प्रमुख पात्र सुनयना है । सुनयना को कोई बच्चा पैदा नहीं होता । इसका कारण उसके पति की बीमारी है । लेकिन पति और घरवाले सत्य को छिपाकर सुनयना पर आरोप लगाते हैं और उसे सताते हैं । उसका पति सुनयना की उपस्थिति में ही दूसरी शादी करता है । सुनयना इसका विरोध करती है । लेकिन फल यह हुआ कि उसे पति का अत्याचार ज़्यादा सहना पडा । सुनयना के घरवाले भी समाज के भय से उसे पति के घर में ही रहने के लिए विवश करते हैं । सुनयना का एकमात्र समर्थक उसका मामा था जो शहर में रहता था । वह पति और पत्नी की समान हैसियत का पक्षधर था । सौतिन आने के बाद सुनयना को ज़्यादा काम करना पडा और घरवालों का अत्याचार भी ज़्यादा सहना पडा । अंत में वह घर छोडकर मामाजी के घर चली जाती है ।

मौजूदा समाज में नारी दोहरी शोषण की शिकार है । एक ओर पूँजीपति समाज का आर्थिक शोषण और दूसरी ओर पुरुष की मेधाशक्ति के अत्याचार भी उसे सहने पडते हैं । इस दोहरे शोषण के चित्रण में कहानीकार सफल निकले हैं ।

कोई एक मसीहा

नारी शोषण के एक और आयाम को प्रस्तुत करती है हिमांशु जोशी का "कोई एक मसीहा" । इसमें "सुरेश भाई" और "लाभु बेन" दोनों मिलकर निरीह ग्रामीण लड़कियों का शोषण करता है । लाभुबेन द्वारा संचालित महिलाओं के "ट्राइनिंग सेन्टर" के लिए सुरेश भाई की सहायता से सरकारी ग्रांट मिलता है । सुरेश भाई एक छोटा राजनैतिक नेता भी है । वह कभी कभार "ट्रेइनिंग सेन्टर" में ठहरने आता है । तब लाभुबेन की अनुमति से एक-एक गरीब लड़की को बारी बारी से उसके कमरे में भेजा जाता है । यों सेवा के नाम पर लड़कियों का यौन शोषण होता है ।

लहू पुकारे आदमी

मधुकर सिंह की कहानी "लहू पुकारे आदमी" में जाति-पाँति के नाम पर होते शोषण का यथार्थ चित्र उभारा गया है । मुसहर जाति का लड़के "नगीना" का स्कूल जाना ब्राह्मणों की दृष्टि में एक आश्चर्य-जनक बात थी । उनके लिए यह बात उतनी भयानक थी जितनी कि एक जानवर का आदमी बन जाना । नगीना और मित्र भैरव त्रिपाठी जो ब्राह्मण कुल का था, मिलकर अपने गाँव में "समाजवादी युवक मंच"की स्थापना की ।इसमें शामिल होने के लिए गाँव के सब युवकों को न्योता दिया गया । संघ का पहली मीटिंग हुई । मीटिंग में चुनाव के वक्त पर जात-पांत की बात आयी । इसके नाम पर मीटिंग में हल्ला मच गया । भैरव को

कम्युनिस्ट घोषित किया गया और ब्राह्मण नौजवानों ने एक अलग मंडली बनायी - "गांधीवादी युवक मंच" । नगीना ब्राह्मणों का शत्रु बन गया ।

नाखून

सुभाष पंत की प्रतीकात्मक कहानी "नाखून" शोषण पर करारी चोट करती है । इसमें नाखून शोषण के विरोध का प्रतीक है । कहानी का प्रमुख पात्र स्वतंत्र चिंतन की वजह प्राइवेट कंपनी की अच्छा खासी नौकरी छोड देता है । नौकरी करते हुए वह ज़िन्दगी की हर दिशा में वह घुटन का अनुभव कर रहा था । बस में चढने के लिए "क्यू", प्रेमिका से मिलने के लिए समय की पाबन्दी जैसी कितनी नंदिशें ।" उसे लगा कि उसके अन्दर का आदमी गुलाम है । अतः उसने नौकरी छोड दी । बोस के अनुरोध पर भी वह नौकरी पर टिका नहीं रहा । उसके जीजा और दीदी ने ज़िद की और प्रेमिका ने भी बहुत मनाया । फिर भी वह अपने निश्चय पर अडिग रहा ।

एक दिन वह अपनी दीदी के घर आया तो देखा कि वहाँ बडे अफ़सरों के लिए पार्टी दी जा रही है । उसकी दीदी उन अफ़सरों की सेवा में रत है । उसने गौर किया कि दीदी के नाखून बढ गयी है और ऊपर पॉलीश भी किया गया है । वह सोचता है कि भीतर के आदमी को बचाने के लिए नाखून की ज़रूरत है । और एक दिन उसने

आदमी के हाथ से ब्रेड-बट्टर की पोटली छीनकर भागते कुत्ते को देखा । "अनायास उसमें भी एक परिवर्तन आया । खून में गरमाहट हुई । उसने सोचा, अन्दर के आदमी को बचाने के लिए अपने पास भी नाखून की ज़रूरत है । और अगले क्षण उसने महसूस किया कि सचमुच उसके नाखून बढ रहे हैं ....।"[1]

पूँजीवादी व्यवस्था इतनी क्रूर एवं निर्मम हैं कि सब के सब मतलबी हैं । सबको अपना ही ख्याल है । ऐसी हालत में हर एक को जीने के लिए तरकीबें निकालनी पडती है । नाखून दरअसल मतलबपरस्ती का प्रतीक है । कुत्ता नाखून के कारण अपनी रोटी छीन सकता है । दीदी नाखून की मदद से पार्टी चलाकर अपना मतलब निकालती है । अपने को बचाये रखने के लिए छीनना पडता है । आखिर छीनने के लिए तो नाखून ही चाहिए ।

हरिजन

स्वतंत्रता हासिल होने के इतने साल बाद भी समाज में प्रचलित जाति-पांति का अंत नहीं हुआ है । "हरिजन" के लेबल पर "हरिजनों" को जितनी ही कठिनाइयाँ झेलनी पडती है । जाति-पांति का दबदबा स्वतंत्र भारत में अब भी मज़बूत है । छुआछूत में कोई बदलाव नहीं आया है । आज भी हरिजन युवकों की क्रूर हत्या होती है ।

---

1. सुभाष पंत, तपती हुई ज़मीन, पृ. 32.

हरिजन युवतियों का बलात्कार होता है । ज़मीन्दारी व्यवस्था की क्रूर कारनामों की समाप्ति अब तक नहीं हुई है । जमीन्दारों का निर्धन हरिजन किसानों पर अत्याचार आज भी निर्बाध हो रहा है । तनतोड मेहनत करने के बाद भी उन्हें भरपेट भोजन नहीं मिलता । ज़मीन्दारों की मनमानी किसानों की औरतों और उनकी बेटियों पर हावी होती रही है, हरिजनों की स्थिति इतना दुखद हैं कि एक ओर उन्हें जाति के कारण शोषण का शिकार होना पड़ रहा है तो दूसरी ओर आर्थिक विपन्नता की वजह अपने अस्तित्व तक के लिए जद्दोजहद प्रयत्न करना पडता है ।

स्विमिंग पूल

अजगर वजाहत की कहानी "स्विमिंग पूल" प्रतीकात्मक कहानी है । इसमें तीन पात्र है - वाचक, उसकी पत्नी और वी.आई.पी । वाचक के घर के सामने एक नाला बहता है, वह नाला बदबू और गंदगी का भण्डार है । अधिकारियों की सेवा में अनेकों शिकायतों, संपर्कों और विज्ञापनों को भेजा गया । इसका तनिक भी फल नहीं मिला । नाला साफ़ करने के लिए अधिकारी लोगों की ओर से कोई इंतजाम नहीं किया गया । वाचक की पत्नी नाले की वजह से परेशान है । इसी बीच वी.आई.पी. वाचक के घर आता है । पत्नी उनसे शिकायत करती है । वी.आई.पी. ने जल्दी ही साफ करवाने का वादा करता है । लेकिन दिनों बाद भी नाला साफ़ नहीं होता । पत्नी ने बार-बार शिकायत की और बार-बार आश्वासन मिला । किन्तु आश्वासन के बावजूद भी

नाला नहीं साफ़ होता । इन सबके बीच नाले में किलकता, डूबता-उतराता है वी.आई.पी । हाथ-पैर मारता, खुश होता, आनन्द लेता - जैसे नाला नाला नहीं, "स्विमिंग पूल" हो । "स्विमिंग पूल" की संक्षिप्त कहानी यही है ।

कहानीकार ने इस कहानी के द्वारा पूँजीवादी व्यवस्था पर करारी चोट की है । यह ऐ ऐसी व्यवस्था है जिसमें जनता निरूपाय है । इस गलित व्यवस्था में बहुसंख्यक जनता स्वयं दर्द और तकलीफ भोगती है और इन तकलीफों की वजह से ही प्रभुवर्ग की क्रीडा की वस्तु बनती हैं । प्रभु वर्ग उस दर्द और तकलीफ़ से बेखबर इसलिए रहता है कि अगर गंदगी साफ हो गयी और लोगों को स्वस्थ परिवेश मिल जाय तो प्रभुवर्ग की ज़रूरत और अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा ।

वी.आई.पी. के आश्वासन के बावजूद नाला साफ़ नहीं होता । शायद हो भी नहीं सकता । भ्रष्टाचार और अव्यवस्था ने जिस तरह से देश की रग-रग में अपनी घातक जड़ें जमा ली है, वह आश्वासनों से साफ़ नहीं हो सकता । समाज में अव्यवस्था और भ्रष्टाचार कैंसर जैसे हैं । कैंसर बचा रहता है यद्यपि कैंसर के रोगी मर जाते हैं । व्यवस्था रूपी कैंसर ही आज की दुस्थितियों का कारण है ।

नाला गंदगी पूँजीवादी व्यवस्था का प्रतीक है । समूचे

देश में फैली यह गंदगी लोगों के दैनंदिन जीवन के रेशे-रेशे में व्याप्त हो चुका है । यह गन्दापन साफ़ नहीं हो सकता । "स्विमिंग पूल" जो कहानी में प्रतीक रूप में आया है वह सीधे-सीधे सामाजिक-आर्थिक असमानता वाली व्यवस्था पूँजीवादी व्यवस्था ही है । इस व्यवस्था में कुछ व्यक्तियों की प्रभुता की कीमत पूरे समाज को चुकानी पड़ती है । इस कहानी के संबंध में अखिल अनूप ने स्पष्टतः कहा है कि देश में एक प्रकार की निरंकुश तानाशाही और अधिनायकत्व ने राज्य को समाज से अधिक दर्जा प्रदान किया है । यह तो पूँजीवादी चरित्र की विशेषता है । यह न केवल भारत, वरन् पूरी दुनिया में देखा जा सकता है ।[1]

इस प्रकार मौजूदा व्यवस्था में पूँजीवादी आधिपत्य की गहराई की सही पहचान कराने में कहानीकार सक्षम हुए हैं ।

ज़मीन्दारों के कुतंत्र का पर्दाफाश और किसान आन्दोलन का चित्रण

हरिजन सेवक

मधुकर सिंह की कहानी "हरिजन सेवक" ज़मीन्दारों के अत्याचार का पर्दाफाश करती है । मुंशी रामचरण सिंह मुहल्ले के स्कूल का अध्यापक था । वह गाँधीजी के आदेश पर घूम-घूम कर हरिजनों की सेवाकाई में लगे रहताथा । गाँव में जब कोई डकैती होती थी तो हरिजन

1.मधुकर सिंह, हरिजन सेवक, पृ.

पकड़े जाते थे ।

एक बार मुंशीजी पर यह आरोप लगाया गया कि उसने मुखिया के लड़के के साथ अनुचित व्यवहार किया, फलत: उसका कहीं दूर तबादला हो गया । पर मास्टर ने वहाँ भी हरिजन सेवा छोड़ी नहीं, उन्हें पढ़ाया लिखाया ।

मालिकों को जब मालूम हुआ कि सरकार उनसे लेवी के रूप में अनाज वसूल करने जा रही है तो उन्होंने सरकार का बदला किसान हरिजनों से लेना शुरू कर दिया । पहले वे किसानों को सोलह कट्ठा ज़मीन जोतने के तीन सेर धान हिसाब से मजूरी देते थे । महँगाई में किसानों के पेट भरते नहीं थे । किसान इसके बदले में दो बीघा ज़मीन और तीन सेर चावल माँगते थे । पर मालिक लोग देने को तैयार नहीं थे । किसान भी कम मजूरी पर काम करने के लिए तैयार नहीं थे । मालिकों का यही विचार था कि जब भूख से बिलबिलाने लगेंगे तब वापस आयेंगे । लेकिन मज़दूर काम करने शहर जाने लगे । वे मालिकों के सामने हाथ पसारने तैयार नहीं थे । मालिक किसानों पर बदला लेने के लिए अवसर की ताक में थे । एक दिन उनके गाँव में आग लगी । कई लोग जलकर मर गये । आग लगाने का आरोप किसानों पर पड़ा । पुलीस पूछताछ की, मार-पीट भी हुई । तब मालिक लोग उनको ही दोषी ठहराए । उन्हें मारते-पीटते पुलिस ले गयी । जेल के फाटक पर उनकी मुलाकात मा साहब से

होती है । मासाहब स्वतंत्रता-पेंशन के लिए वहाँ रिकार्ड लेने आया था । अगर अधिकारी लोग घूस माँगते है । मास्टर साहब के सामने से किसानों को जेल ही ले जाते हैं । इस अन्याय का शिकार मास्टरजी कुछ भी कर नहीं पाता है । पुलिस व्यवस्था के संरक्षक है । जिसकी सत्ता होती है, उनकी सेवा ही उनका धर्म है । यद्यपि उन्हें न्याय के दावेदार समझे जाते हैं, लेकिन उनका न्याय सत्ता सापेक्ष है, जन सापेक्ष नहीं ।

कवि भुवनेसर मास्टर

मधुकर सिंह की ही एक और कहानी है "कवि भुवनेसर मास्टर" । भुवनेसर महतो शहर के भगवान सिंह के स्कूल के विज्ञान का शिक्षक था । आम चुनाव में एक हरिजन उम्मीदवार को सपोर्ट करने के कारण और कांग्रेस का खुलकर विरोध करने के कारण उन्हें गुंडों से मार खाना पड़ा । इतना ही नहीं गुंडों ने उसे नदी में फेंक भी दिया । पर मित्र सघन यादव उसे बचाया ।

एक दिन सामन्तों, जमीन्दारों और पुलीसों के अत्याचारों के खिलाफ हरिजनों का विशाल जुलूस शहर की सड़कों से गुजरता हुआ कलेक्टर के बंगले की ओर जा रहा था । मास्टर जुलूस का नेतृत्व कर रहा था । इसके बाद मास्टर को नक्सलवादी घोषित किया गया और गाँव की आगजनी में उनके हाथ होने का आरोप भी लगाया गया ।

एक बार मालिकों की शैतानी से तंग आकर लोगों ने एक शैतान मालिक को मार डाला । संध्या होते ही गाँव के घर पर जलने लगे । पुलीस आ गयी और बुरी तरह पिटाई होने लगी । पुलीस ने नौजवान लड़कियों के साथ बलात्कार भी किया । जंगी की बेटी के साथ पुलीस के सात जवान चढ़े थे । वह गाँव में कहीं मरी पड़ी मिली ।

भुनेसर पर पुलीस का वारन्ट था । गाँव-ज्वार में एक इश्तहार हाथों से लिखकर जगह-जगह चिपका हुआ मिला -"हम अपने बच्चों और बेटियों का बदला पुलीस और भूस्वामियों से लेंगे ।"[1] किरण डूबते ही मास्टर और साथी लोग बाहर निकलते थे । एक बार भुवनेसर अपने परिवारवालों से मिलने आया । गाँव के बाबुओं को पता चल गया कि भुवनेसर आया है । लेकिन किसी की हिम्मत नहीं हुई कि उसे पकड़ लें । उसने बाबुओं की टोली में घुसकर साफ-साफ कह दिया -"मजूरी दबाकर रखना जुल्म है । तय किया हुआ बल और मजूरी हम लेंगे । घरों में जो गल्ला छिपाकर सड़ाते हैं उन्हें गरीबों के हाथों सस्ते दामों में बेच डालो, नहीं तो भुक्खड़ों की टोलियाँ तुम्हारी कोठी लूट लेंगी । हम जानते हैं कि पुलीस में भी तुम्हारे लोग हैं । मगर हम भी अपनी रक्षा के लिए तैयार हो गये हैं । सारी टोली हाथ मलती रह गयी ।"[2]

एक दिन भुवनेसर और उनका मित्र सघन यादव रात में

---

1. मधुकर सिंह, हरिजन सेवक, पृ. 30.

2. वही, पृ.. 30.

कहीं से लौट रहे थे । उसके एक विरोधी ने भुवनेसर के सीने पर बन्दूक तान दी । पर भुवनेसर की चुनौती के सामने वह हार गया । तब विरोधी ने एक चाल चलाया । वह छिप छिपकर भुवनेसर का पीछा किया और मुसहर टोली के पास आकर चोर-चोर कहकर चिल्लाने लगा । मुसहर टोलि लाठी लेकर दौड पडी और रात की अंधेरी में अपने नेता भुवनेसर को मार कर हत्या कर दी । सुबह-सुबह उन्हें मालूम हुआ कि वह अपना नेता है जिसको रात में उन्होंने अनजाने कत्ल किया था । लोग बहुत दुःखी हुए, पछताए भी पर कोई फायदा नहीं था, उन्होंने खुद बंदूक अपने सीने पर तान दी थी ।

यह कहानी ज़मीन्दारों के कुतंत्रों का प्रवीण ढंग से पर्दाफाश करती है । अपने खिलाफ बुलन्द होते आवाज़ को बंद करने और उठते हाथ को काटने के लिए जमीन्दार सक्षम हैं । उनकी चालबाज़ी इसकी ही मांग करती है कि शोषितों दुगुनी शक्ति संभालती है, और चालें चलाती हैं ।

आसाढ का पहला दिन

मधुकर सिंह की ही और एक कहानी है "आसाढ का पहला दिन" । सिंहुली किसानों का नेता है । वह किसानों के हक के लिए लडता है । जमीन्दार महाननराय वकील है । वह किसानों के हक के लिए जो लडाई चल रही है उसको टोकने का प्रयास करता है । किसान

सभा से सिहुली राम ने एलानिया के तौर पर कह दिया, "भाई रे । अब तो चाहे जेहल में सड़ना पड़े, इस साल आसाढ़ में खेत पर हल चढ़ेगा । बरदाश्त करने की भी कोई सीमा होती है । आज तक कोर्ट-कचहरी में ईख की तरह पेराई होती रही है । ऊपर से आग लगी । सुअरों की तरह खेदा- हम भी आदमी हैं कि नहीं ? बंटाईदारी कानून और न्यूनतम मज़दूरी का धोखा सिर्फ हमें पेरने के लिए खड़ा किया गया है । भीतर-भीतर सभी अपने ही कानून का विरोध कर रहे हैं । समझौते क्यों नहीं कि ये लोग कौन हैं ? सरकार जो मज़दूरी तय की है वह हमें मिलनी चाहिए ।[1] .... यहाँ तक कि आहर-पोखर पर भी कब्जा कर लिया है और छोटे-छोटे जोतदारों को भी इन्हीं की मर्जी से न ज़िन्दा रहने की छूट है और न मरने की ही इजाजत है ।

ज़मीन्दार और सरकारी अफ़सर बी.डी.ओ का आपसी अनैतिक गठबन्धन था । किसानों से बी.डी.ओ का वक्तव्य है -"सब साले गांधीजी के चेले ही बनना चाहते हैं। .... कौन सिहुली राम ? है तो हरिजन ही । मगर कम्युनिस्टों की हवा में आ गया है ।"

सिहुली राम ने तो अन्य मज़दूरों की मौजूदगी में ही ज़ोर से घोषणा की -"हम ने तो अपनी ज़मीन से धान काटेंगे । खेत की जोताई हमने की है, खाद-बीज हमने डाले हैं, रोपन - सोहनी हमने की है ।

---

1. मधुकर सिंह, हरिजन सेवक, पृ. 11.

तब हमें बेदखल करना कहाँ का इन्साफ़ है ?"[1]

ज़मीन्दारों का विश्वास है कि "जब तक गाँव के मज़दूर भूखों नहीं मरते हैं तब तक इनका दिमाग ठिकाने नहीं आ सकता ।[2] ज़मीन्दार किसानों के खिलाफ भूमिसेना भी गठित करते हैं । उनके नारे हैं - काम के लिए भोजन योजना बन्द करो । फसलों की बर्बादी हुई तो आग लगेगी झोंपड़ियों में । फसल की रक्षा कौन करेगा - हम करेंगे, हम करेंगे, भूमिसेना-ज़िन्दाबाद । अपनी रक्षा आप करो, नक्सलबारियों को साफ़ करो ।"[3] सिहूली एक दिन महानन राय के दरवाज़े पर गया और बोला, मरता क्या नहीं करता, मालिक । पुलीस के साथ आपने भी हमें नक्सली कहना शुरू कर दिया है । तब हम और इन्साफ़ के लिए क्या करें ? आप तो दूसरा महाभारत रचा रहे हैं । भूमिसेना बना रहे हैं । इससे बचाव के लिए हमें क्या करना चाहिए ? हम भी संगठित होना चाहते हैं तो हमें नक्सली क्यों कहते हैं । बदन राय भी अपना ही की बात दोहराते हैं । सुन लीजिए मालिक । आसाढ में कोई अधिक दिन नहीं है । गाँव के बँटाईदार खेत पर हल चढायेंगे । हम आपके महाभारत से जूझने के लिए तैयार हैं ।"[4]

आसाढ चढते ही आकाश में बादल उमडने लगते हैं ।

---

1. मधुकर सिंह, हरिजन सेवक, पृ. 14.
2. वही, पृ. 15.
3. वही, पृ. 15.
4. वही, पृ. 15.

वह दिन भी आ गया है जब आकाश इस समय बरखा से खेतों की मेड़ें भरने लगती हैं । गाँव में गजब का उल्लास और बेचैनी है । वे अगल-बगल से हल बैल माँगकर खेती की ओर बढ़ते जा रहे हैं । बादल भी लगता है उन्हीं की तरह उल्लास में है । उन मरे हुए मज़दूर और बँटाईदारों को आसाढ़ ने नये सिरे से उत्साहित किया है ।"[1]

आसाढ़ के चढ़ते दिन किसान संघ खेत में काम करने जाते हैं । महानन्द राय और ज़मीन्दार बन्दूक से उनकी अगवानी करते हैं । किसानों ने खेत के सीने पर हल चढ़ा दिया । एक गोली उछलकर सिहुली पर लगती है । सिहुली हल पर गिर पड़ता है । मगर हल का चलना रुकता नहीं है । हल उसका बेटा थाम लेता है, जैसे उन तमाम लोगों को गोली बन्दूक की कोई परवाह नहीं हो ।"[2]

इस कहानी की सबसे बड़ी खासियत यह है कि इसमें किसानों की संगठित शक्ति का यथार्थ चित्र मिलता है । दरअसल किसान ही ज़मीन का मालिक है क्योंकि वही उसमें हल चलाता है, बीज बोता है । तो फसल काटने का हक भी उसीका है । यानी किसान-मज़दूरों का ज़मीन पर जन्मसिद्ध अधिकार होता है । लेकिन ज़मीन्दार जिसके हाथ में बंदूक है और सत्ता की सुरक्षा है, किसानों की माँग को स्वीकार करने कदापि तैयार नहीं होते । वे भी अपनी सेना तैयार करते हैं । परिणामत: खुला संघर्ष होता है । शोषक और शोषितों का आपसी सशस्त्र संघर्ष का बेहद आँखों देखा दस्तावेज़ है यह कहानी ।

---

1. मधुकर सिंह, हरिजन सेवक, पृ. 15- 16
2. वही, पृ. 16.

हरिजन सेवक

मधुकर सिंह की कहानी "हरिजन सेवक" में छुआछूत से पीड़ित हरिजनों का दीन चित्रण मिलता है । हरिजन सेवक मुंशी रामचरण सिंह मुहल्ले के स्कूल में पढ़ाता था । गान्धीजी के आदेश पर घूम-घूमकर हरिजनों की सेवाकार्ई में लगा रहता था । एक दिन मुखिया के लड़के साथ कोई अनुचित व्यवहार होने के कारण मास्टर का तबादला हो गया । गाँव के हरिजन फिर दुविधा में पड़ गये । ज़मीन्दारों की दबन नीति निर्बाध गति से चलती रही । एक बार मालिकों ने सुना कि सरकार उनसे अनाज लेवी के रूप में वसूल करने जा रही हैं तब उन्होंने सरकार का बदला हरिजन किसान से लेना शुरू कर दिया । पहले मालिक सोलह कट्ठा ज़मीन जोतने के लिए और तीन सेर धान रोज़ के हिसाब से मज़दूरी देते थे । महंगाई में इन किसानों का पेट नहीं चलता है । किसान दो बीघा ज़मीन और तीन सेर चावल मांगते थे । मालिक लोग देने के लिए तैयार नहीं थे । मालिक सोचते थे कि ये किसान भूख से बिलबिलाने पर वापस आयेंगे । लेकिन मज़दूर शहर में काम करके भी मालिकों के सामने हाथ पसारने से इन्कार किया । मालिक किसानों से बदला लेने के लिए ताक में बैठे थे । एक दिन गाँव में आग पड़ी । कई जलकर मर गये । आग लगी का आरोप इन दुस्साध्य टोली पर पड़ी । पुलीस आकर पूछताछ की, मार पीट की । तब मालिक लोग आकर उनको दोषी ठहराए । उन्हें मारते पीटते ले गये । जेल के फाटक पर मास्टर साहब को देखा । मास्टर साहब वहाँ स्वतंत्रता-पिंशन के लिए रिकार्ड लेने आये थे । मगर अधिकारी बोलते हैं कि घूस दो तो सर्टिफिकेट बनायेंगे मास्टर साहब की दयनीय स्थिति देखकर वे जेल को ओर गये ।

इस कहानी में भी ज़मीन्दारी शोषण का यथार्थ चित्रण मिलता है । संविधान में हर नागरिक का जीने का अधिकार है । संपत्ति हासिल करने का हक भी हैं लेकिन हकीकत का संविधान से कोई तालमेल नहीं है । असलियतों के हूबहू चित्रण में कहानी सक्षम है ।

सन् 1960 ई. के बाद के दो दशकों की सामाजिक-राजनीतिक और साहित्यिक परिस्थितियों में एक अपूर्व परिवर्तन के संकेत दृष्टव्य है । जीवन के समस्त क्षेत्र हलचलों से संत्रस्त थे । मौजूदा सामाजिक जीवन से भारतीय जनता बिलकुल असंतुष्ट थीं । स्वतंत्रता के इतने अरसे बीत जाने के बाद भी लोगों के जीवन में कोई परिवर्तन नहीं हुआ था । उनके अधिकारों का संरक्षण करने में सत्ताधारी कांग्रेस पार्टी पराजित हुई थी । गरीब आम जनता महसूस करती थी कि कांग्रेस पार्टी पूँजीपतियों व सामन्तों के चंगुल में पूर्णत: फँसती जा रही है । अमीर अधिकाधिक अमीर होते गये । पूँजीपतियों और सामंतों की रक्षा ही पुलिस का धर्म हो गया । यहाँ पुलीस फोर्स का उपयोग सामान्य जनता को दबाने के लिए किया गया । नक्सली के नाम पर बहुत से युवकों की हत्या की गयी । ब्रिटिशों के शासन काल में भी इतनी घोर अमानवीयता बरती नहीं गई । हिमांशु जोशी की कहानी "जलते हुए डैने" पुलीस फोर्स द्वारा किये गये क्रूर कारनामों का पर्दाफाश करती है । कहानी का प्रमुख पात्र "शिवदा" स्कूल मास्टर है । शिवदा का पिता सेमुअल रामदास आदिवासी क्षेत्र में "मिशन-अस्पताल" का डाक्टर था । वह खादी के कपड़े पहनता था । चर्खा कातता था । इसलिए विदेशी सहायता

से चलते अस्पताल के गोरे, अधगोरे अफ़सर और पादरी उनसे क्रुद्ध थे ।

जाड़े में जब भी पश्मीना ओढ़कर किसी मरीज़ को देखने जाते तो उसके शीत से ठिठुरते गात पर वह अपना पश्मीना डाल देता । किसी रोगी के घर राशन नहीं है तो दवा के साथ-साथ राशन भी पहुँचा देता। आदिवासी बच्चों को पाठशाला भिजवाता । बयालीस के आन्दोलन का नारा "करो या मरो" "ज़ोर पकड़ा तो उसने अस्पताल छोड़ दिया । और तिरंगे झंडे के नीचे आदिवासी क्षेत्र में नये आन्दोलन का सूत्रपात किया । सरकार के दमन-चक्र में दबकर सैमुअल रामदास भी आखिर शहीद हो गया । बाबा भीखनचन्द उस दिन का आँखों देखा हाल सुनाता हैं तो रोंगटे खड़े हो जाते हैं । "सैमुअल रामदास की लहूलुहान देह ज़मीन पर कुचलते हुए केंचुए की तरह छटपटा रही थी । उनकी काँपती हुई मुट्ठियों में झंडा जकड़ा हुआ था । होंठ काँप रहे थे । फुसफुसाहट की काँपती आवाज़ में आ रही थी - "इन्न-क्लाब" यही उनके अंतिम शब्द थे ।[1]

शिवदा की माँ जनते ही मर गयी थी । पिता ने भी शहीद बनकर उसे अनाथ किया था । फिर वह अपने मौसी के घर पला । प्रतिकूल परिस्थिति में भी दूसरों के सहारे पढ़-लिखकर शिवदा अध्यापक बनता है । आलमगंज के प्राइवेट स्कूल में । रात में वह प्रौढ़ पाठशाला चलाता था । दिन में स्कूल से लौटने के बाद गरीब बच्चों को घर पर पढ़ाता

---

1. हिमांशु जोशी, तपस्या और अन्य कहानियाँ, पृ. 26.

भी था । एक दिन शिवदा की नौकरी छूट गयी । मैनेजिंग कमेटी के चेयरमैन लाला सुखनप्रसाद का आरोप था कि शिवदा विद्यार्थियों को भड़का रहा है । सरकार के विरुद्ध जन आन्दोलन में भाग ले रहा है । अकाल में तो शिवदा ने हद ही कर दी थी । जब कहीं कुछ न बना तो सरकारी दफ्तरों के आगे धरना दिया । अफ़सरों के कारों के आगे लेट गया । सरकारी अफ़सर कहते थे कि लोग भूख से नहीं पौष्टिक तत्वों की कमी के कारण मर रही हैं , तो शिवदा भूख से मरे लोगों के अस्थि पंजर अपने दुबले कंधों पर लाद-लादकर थाने के सामने पटकते -"यह देखो, अब भी कह सकते हो कि ये भूखे नहीं मरे ? शिवदा के दांत भिंच जाते । आँखों में लाल डोरे उभर पड़ते । इस आदिवासी क्षेत्रों में भूख से नौ सौ पन्द्रह लोग मरे । सरकारी अनाज चोर बाज़ारी में बिकता रहा - शहरों में । दवाएं देखने तक को न मिली । दुर्भिक्ष पीड़ितों ने जुलूस निकाले तो उनपर गोलियाँ बरसायी गयी । उन्हें देश द्रोही करार दिया गया ...... नेता लोग आए और फोटो खिंचवाकर चले गये । थाने के आगे धरना देनेवालों को चौराहों पर घसीटा गया । आदिवासी औरतों के साथ बलात्कार किया गया । यह सब देखकर शिवदा पागल हो गया था । वे पत्थरों पर कोयले से लिखते, बड़ी-बड़ी दीवारें रंग देते । चौराहों पर खड़े होकर भाषण देने लगते । उसकी इन हरकतों से परेशान होकर पुलीस स्वयं पीटती और गुण्डों से पिटवाती भी । न जाने कितने इल्ज़ाम लगाये, कितने दिनों तक थाने में भूखा-प्यासा बन्दी रखती । तो भी शिवदा के आत्मविश्वास में खलल नहीं पड़ा ।[1]

---

1. हिमांशु जोशी, तपस्या और कहानियाँ, पृ. 29.

आपातकाल के दौरान लगान की वसूली के प्रश्न पर जो आन्दोलन छिड़ा, उससे कानून-व्यवस्था ही खतरे में पड़ गयी थी। आन्दोलनकारियों की धर-पकड़ हुई तो सबसे पहले पुलीस की निगाह शिवदा पर ही पड़ी। बेचारे को मेमने की तरह घर से घसीट ले गयी। अदालत में मुकदमा चला तो शिवदा ने केवल इतना ही कहा, सफाई में - "मैं ने जो कुछ भी कहा, सच कहा था। सच बोलने की सजा अगर मृत्युदण्ड है तो मुझे वह भी मंजूर है......"[1] फिर पता नहीं किस काल कोठरी में ठूस दिया था। उसे तड़प-तड़पकर मरने के लिए। जहाँ से एक दिन बाहर निकला था - केवल उसका अस्थिपंजर।[2] शिवदा की मृत्यु के बाद उसका मित्र "रमाकान्त शहीदाना" अंदाज़ में जमकर खड़ा आसमान की ओर अंगुली उठाए, भाषण दे रहा था - "अंधेर है, अंधेर। ऐसा तो अंग्रेज़ों के राज में भी नहीं हुआ था।"[3]

शिवदा सत्ता के क्रूर कारनामों का शिकार बनता है। देश भर में इसी प्रकार के अनेक "शिवदा" बली पर चढ़े तो असत्य और अन्याय के विरुद्ध जनचेतना को उजागरित करने में यह कहानी सचमुच एक कारगर हथियार की भूमिका निभाती है।

सत्ता का अत्याचार

स्वतंत्रता के बाद हमारे राजनीतिक नेताओं ने भारत

---

1. हिमांशु जोशी, तपस्या और कहानियाँ, पृ. 29.
2. वही, पृ. 29.
3. वही, पृ. 29.

को जनतंत्र पर अधिष्ठित समाजवादी देश बनाने का वादा किया था । लेकिन जनतंत्र पैसतंत्र में बदल गया । डेमोक्रसी मोबोक्रसी में तब्दील हो गयी । छद्म दलाली पूँजीपतियों के हाथ में सत्ता सिमट गयी । आम जनता पर सत्ता की ज़्यादती भी बढ़ गयी । अपने हक के लिए संघर्षरत जनशक्ति को बुरी तरह कुचला गया । सत्ता बेरहमी से पेश आयी जो ब्रिटिश शासन में भी घटित नहीं हुआ था । फलतः जनता क्रांतिकारी कदम उठाने लगी । क्रांतिकारियों के साथ सत्ता का सख्त इतना अमानवीय और निर्मम रहा कि अनेकों ने पुलीस के हवालत में दम तोड दिये ।

जनता की क्रांतिधर्मिता और सत्ता की ज़्यादती को उजागरित करती कहानी है संजीव की "अपराध" । नक्सलवादी आन्दोलन के परिप्रेक्ष्य में लिखी गयीं कहानी है यह । उत्तम पुरुष में लिखी गयी, इस कहानी के प्रमुख पात्र है - कहानी का प्रस्तुत कर्ता । कहानी में एक दुविधा है । वाचक नायक के संपर्क में आकर क्रांतिकारी विचारधारा से प्रभावित होता है । वह संपन्न एवं प्रभुवर्ग का है । उसके पिता जज और भाई बडे पुलीस अफ़सर है । क्रांतिकारी {नक्सली} नायक शचिन वाचक का सहपाठी है । मार्क्सवाद से वाचक और शचिन दोनों प्रभावित हैं किन्तु शचिन का ज्ञानात्मक संवेदनात्मक सकर्मक है जबकि वाचक का अकर्मक । जज पिता उसका मनोवैज्ञानिक उपचार करते हैं । उसके निर्देशक से कहकर उसे अपराध पर शोध में प्रवृत्त करा देते हैं । वह अपराध पर दुनिया भर की किताबें पढ़ता हैं और अपराधियों से इन्टरव्यू लेता है । शचिन शोध नहीं करता । विचारधारा को क्रिया में परिणत करता है । इससे कहानी में ज्ञान और कर्म की विसंगति से वह विडंबना पैदा होती है जो आज के बुद्धिजीवियों की कमज़ोरी हैं ।

फलत: शचिन व्यवस्था की दृष्टि में अपराधी बन जाता है और वाचक अपराध-विशेषज्ञ । अपराधी-व्यवस्था की इस विडंबना का चित्रण कहानी का उद्देश्य है । इसी ढाँचे में कहानी की गति और व्याप्ति है । शचिन समाज-परिवर्तन एवं व्यवस्था विरोध से बेचैन है ।

सत्ता का मशीनरी पुलीस के अत्याचार को संजीव ने सजीव प्रसंगों के ज़रिये प्रस्तुत किया है । "जेल सुपरिंटेंट एक नवागत नक्सली कैदी से न जाने क्या उगलवाने के चक्कर में परेशान हो रहे थे । मेरे सामने ही ज़ोरों का मुक्का उसके जबड़ों पर पड़ा और उसका चश्मा दूर जा छिटका । वे फिर से बड़ी निर्दयतापूर्वक उसके बालों को पकड़कर नचाने लगे । मुझे देखा तो वापस ले जाने का हुक्कम देकर बैठ गये । नक्सली युवक अपना खुन पोंछने के बजाय अपना चश्मा टटोलने लगा । चश्मे के अभाव में उसकी स्थिति अंधे जैसी हो रही थी । मुझसे न रहा गया । मैं ने स्वयं चश्मा उठाकर उसे दिया तो पता चला उसके कांच दरक चुके थे ।"[1]

शचिन की बहिन संघमित्रा मेडिकल कालेज की मेधावी छात्रा थी । वह भी शचिन की तरह क्रांतिकारी बन गयी । वह भी पुलीस द्वारा पकड़ा गया । वाचक उसके संबंध में यों कहता है -"संघमित्रा का नाम पार्टी के प्रवर संगठनकर्ताओं में गिना जाने लगा था । उसके विषय में तरह-तरह के मिथ प्रचलित थे....... कि खुन करने में उसे कैसी खुशी

---

1. ऋषिकेश और राकेश रेणु, संपादक समकालीन हिन्दी कहानी, पृ. 30.

होती है ।....... अब फलाँ-फलाँ पूँजीपति, राजनेता, अफ़सर और पार्टी के विश्वासघातक उसकी सूची में है ।..... फलाँ-फलाँ घूसखोर अफ़सर और ऊँची फीस लेनेवाले डाक्टर और वकील को धमकी का खत भी आ चुका है । .... एक मुर्दे को चीरते देखकर बेहोश हो जानेवाली संघमित्रा कहाँ से कहाँ पहुँच गयी थी ।"[1] पुलिस क्रांतिकारियों पर झूठे आरोप लगा रही थी । क्रांति को दबाने के लिए, व्यवस्था जो तिकड़म आयोजित करती है, इसका स्पष्ट संकेत कहानीकार ने उपर्युक्त संदर्भ में दिया है । हाँ, मुर्दे को चीरते देखकर बेहोश होनेवाली संघमित्रा पूँजीपतियों के खून करने में सक्षम हो गयी । व्यवस्था की दृष्टि में संघमित्रा अपराधी है । लेकिन क्रांतिकारियों को निर्ममता से बन्दूक की नोक पर उठा देना तो अपराध नहीं । व्यवस्था की यह दुर्निवार नीति मुर्दे को चीरते देखकर बेहोश होनेवाली संघमित्रा को भी क्रांतिकारी बनाती है । व्यवस्था ने संघमित्रा की हत्या की । संघमित्रा की निर्मम हत्या का विवरण शचिन वाचक के सामने इस प्रकार देता है -"शी हेड बिन बूटली बुचर्ड लांग एगो" उसके गुप्तांग में रूल घुसाकर ...... मथकर मारा गया ।"[2]

व्यवस्था शचिन से भी सख्ती से पेश आयी शचिन पर किया गया अत्याचार का चित्रण कितना दर्दनाक बना है - मेट और सिपाही कहीं से छड लाकर लगे कोंचने और पीटने बेरहमी से {सेल में कैद शचिन पर} उसे.... जैसे सर्कस के खूँखार जानवर पशु के अचानक हिंसक उठने पर सर्कस के नौकर किया करते हैं । वह "धों-धों, करके चीत्कार कर रहा था ।"[3]

---

1. ऋषिकेश और राकेश रेणु {संपादक},समकालीन हिन्दी कहानियाँ, पृ. 23-24
2. वही, पृ. 34.
3. वही, पृ. 33.

व्यवस्था की दुर्नीति के संबंध में "अपराध" कहानी पर चर्चा करते हुए डा. विश्वनाथ त्रिपाठी ने अपराध को रोकनेवाले संस्थान-न्यायालय, पुलीसी, जेलें-अपराधकर्मी हो गए हैं । राजसत्ता और उसके कारण - उपकरण अपराधकर्मी एवं संरक्षक बन गए हैं । और इनका विरोध करनेवाले मारे भी जाते हैं और अपराधी घोषित किये जाते हैं । इस प्रक्रिया में हमारे पारंपरिक घोषित मूल्य- करुणा, परदुख कातरता, नारी सम्मान, प्रेम - सब का तिरस्कार किया जाता है - सबकी हत्या होती है । हत्यारे अपराधी नहीं, न्याय के संरक्षक माने जाते हैं । शचिन के पिता और संघमित्रा चरित्रों या चारित्रिक-संकेतों से यही विचार प्रकट होता है ।"[1]

शचिन अपने प्राण देकर अपने विश्वासों की रक्षा करता है । वाचक शोध करता है - अपराध पर । लेकिन अपराध का विरोध न करके खुद अपराधियों की पंक्ति में शामिल हो जाता है । इस प्रकार व्यवस्था भी अपराध करता है, जाने अनजाने वाचक भी इसमें शरीक होता है । व्यवस्था के अपराधों का उपचार क्रांति है ।

सत्ता के विरुद्ध जनचेतना

इस दौर की अधिकांश कहानियाँ जनचेतना से भरपूर है । इनमें सत्ता के विरुद्ध उभरती जनचेतना को भी दिखाया गया है ।

---

1. ऋषिकेश सुलभ और राकेश रेणु, संपादक, समकालीन हिन्दी कहानी, पृ. 19.

सतीश जमाली की कहानी "सत्ताधारी" में तीन क्रांतिकारी सुबमिल, अमलेंदु और कथावाचक एक पूँजीपति सेठ की हत्या करने का निर्णय लेते हैं। सेठ के घर आकर वे नाटकीय ढंग से उस की हत्या करते हैं। वे सेठ से "जनता की आदमी" कहकर चन्दा माँगते हैं। वे सेठ के सामने ही सेठ का मज़दूरों के प्रति अत्याचार और क्रूरता का साक्षी बनते हैं। सेठ ने सुकीर्ति नामक एक मज़दूर को मिल की भट्टी में जलाकर मार दिया था। कारण यह था कि उसने वर्करों के लिए अच्छी सुविधाओं की माँग की थी। वह खुल्लम-खुल्लम बताता है कि "वर्करों को तो आप आदमी समझते ही नहीं न, आप नहीं चाहते कि वे लोग ठीक ढंग से ज़िन्दगी बिता सके।" वे वहीं छुरी मारकर सेठ की हत्या करते हैं और बच भी निकलते हैं। रास्ते में उन्होंने देखा कि पुलीस और लोगों के बीच संघर्ष चल रहा है। वे अपने हाथ के हथगोले फेंकने लगे और पिस्तौल का इस्तेमाल करने लगे। कहानी के अंत में अशस्त्र क्रांति प्रभावशाली चित्रण हुई है। यह नक्सलवादी क्रांति की याद दिलाता है। कहानीकार ने सत्ता के विरुद्ध उभरती जनचेतना का सशक्त वाङ्मय भी प्रस्तुत किया है। सेठ की हत्या जाग्रत जनचेतना की प्रतिक्रिया है।

इस दशक की हिन्दी कहानी ने समकालीन परिस्थितियों एवं समस्याओं के प्रति प्रगतिशील दृष्टिकोण को अपनाया है और इसकी वजह जागरूक, सजग एवं संवेदनात्मक कथा-चेतना का विकास भी संभव हुआ है। मधुकर सिंह की कहानी "गिद्ध" इसका प्रामाणिक दस्तावेज़ है। बाद के

कारण गाँव शेष दुनिया से कट जाता है । बाढ से पीड़ित निरीह जनता को सरकार पर भरोसा रखती हैं । उनका विश्वास है कि सरकार कारगर कदम उठायेगी । एक बार हेलिकोप्टर से कुछ दाने गिराये जाते हैं । लोगों का विश्वास है कि वे फिर आयेंगे या स्पीड-बोट आयेगा । लेकिन दोनों फिर नहीं आये । कहानी में बाढ ग्रस्त जनता की बेबसी पूर्णत: स्पष्ट है । कहानी के प्रमुख रूप से तीन पात्र है - बटेसर, सोमारन दादा और मो साहब । मो साहब का भाई कॉलेज का हिन्दी प्राध्यापक है । बाकी दोनों गाँववाले हैं । इनके संवादों से जनता की बेबसी और सरकार की खोखलेपन का पता चलता है । सोमारन दादा कह रहा है -"हर साल कोई नेता अग्नि-बोट में आकर कह जाता है कि नाव आ रही है, मगर नाव कभी आती नहीं बबुआ, अब तुम क्या समझो ।" तब मो साहब-~~का~~ भाई बोलता है - आपका दिमाग खराब है दादा, सरकार के खिलाफ़ पहले से दिमाग क्यों बना लेते हैं ? आप ही जैसे लोगों के खिलाफ़ तो सरकार कानून बनाना चाहती थी कि आप इधर-उधर अनाप-शनाप नहीं बकें ।" तब दादा की प्रतिक्रिया असली स्थिति का पहचान कराती है -"हम गरीब आदमी क्या अनाप-शनाप बकेंगे बबुआ । हमारे पास न कोई संगठन है, न जबान है । हम क्या बकेंगे ? सन् चौहत्तर की इमर्जेंसी याद है ? दादा की आँखें डबडबायी हुई हैं, "मुझे अंग्रेज़ों का ज़माना भी याद है । उन्होंने भी ऐसे-ऐसे कानून नहीं बनाये ।"[1]

लोगों की प्रतीक्षा निराशा में बदल जाती है । न हेलिकोप्टर आता है और स्पीड बोट । लोग उस दिन भी भूखे रहे ।

---

1. मधुकर सिंह, आसाढ का पहला दिन, पृ. 43.

दूसरे दिन हेलिकोप्टर आये पर पहले दिन की तरह लोगों को ज़रूरत के मुताबिक भोजन सामग्री नहीं मिली ।

इस कहानी के द्वारा कहानीकार ने जनता में बरकरार मत भेदों को भी दिखाया है । इससे सत्ता को फायदा ही मिलता है । यह बात मो साहब भाई के इस कथन से स्पष्ट है । वे दादा साहेब से कहता है - "पहले मेरी बात सुन लीजिए । जब से सृष्टि है, तभी से अमीर-गरीब दोनों हैं, बल्कि पहले गरीबी ज़्यादा है । इसी गरीबी को हटाने के लिए इंदिराजी ने चौहत्तर में इमर्जेन्सी लगायी थी कि गरीबों के लिए कुछ उत्थान का काम किया जाये । बेचारी इंदिराजी ने गरीबों को मुफ्त रिक्शा दिया । उनकी सहायता के लिए बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया, मर दादा, धन्य है आपकी जनता । रेल को समय पर चलवाया । गुंडों को जेल में बंद किया । बन्धुआ मजदूरों को मुक्त भी किया । पर इन्होंने इन्दिराजी को वोट नहीं दिया और मनहूस, जनता पार्टी को गद्दी पर बिठा दिया, इंदिराजी समझ गयी थी कि गरीब के लिए कुछ भी करो, गरीब उनके होनेवाले नहीं । इसलिए अफ़सरों को पूरी छूट दे रखी है । पुलीस और अफ़सर दोनों ठीक रहें तो कोई उनका बाल भी बाँका नहीं कर सकेगा । जब तक वह रहेंगी, तब तक राज करती रहेगी । इंदिरा जी का विकल्प ही कहाँ है ?"[1] यद्यपि जनता के सामने सत्ता के विकल्प के लिए सुविधा है पर इस हक का सही ढंग से इस्तेमाल नहीं होता । बाढ से पीडित, बेबस और अपने हक से वंचित जनता के मन में सत्ता के प्रति भक्ति-भावना

---

1. मधुकर सिंह, आसाढ का पहला दिन, पृ. 43.

ती है । मधुकर सिंह जनता की इस मानसिकता का पर्दाफाश करके असलियत से जनता की पहचान कराता है । इस कहानी में गिद्ध {हेलिकोप्टर} सत्ता का प्रतीक है । सत्ता की कृपा के लिए मुंह जोडकर रहनेवाली जनता कभी भी अपनी गरीबी से बचेगी नहीं । हेलिकोप्टर से गिरते भोजन के लिए लडती जनता अपने हक को भूल बैठा है । इस बात को कहानी के अंत में दिखाया गया है । दूसरे दिन फिर हेलिकोप्टर आता है । "सुबह से फिर हंगामा । कल से भी अधिक लोग । सभी संकल्प के साथ इकट्ठे हैं । अधिक से अधिक लूटेंगे । जान देंगे, मगर लूटेंगे ।"[1]

आज की कहानी केवल पढने के लिए नहीं । पढने के बाद सोचने के लिए भी है । जनता की असली स्थिति को प्रस्तुत करती हुई और सत्ता के खोखलेपन की ओर संकेत देती हुई मधुकर की कहानी समाप्त होती है ।

अर्थतंत्र

सतीश जमाली की और एक कहानी है "अर्थतंत्र" । इसमें भी सत्ता के विरुद्ध जनचेतना की चिनगारी दिखाई गयी है । एक निराश युवक के आत्मालाप से कहानी शुरू होती है । उसे बरकरार व्यवस्था के प्रति सख्त घृणा है । एक दिन उसे पता चलता है कि सडक से प्रधानमंत्री निकलनेवाले हैं । सडक पर बडी भीड थी । युवक को उन लोगों के प्रति भी घृणा है जो प्रधानमंत्री की जय बोलते हैं । वह चाहता है कि

---

1. मधुकर सिंह, आषाढ का पहला दिन, पृ. 4?.

COCHIN UNIVERSITY OF SCIENCE & TECHNOLOGY

प्रधानमंत्री की हत्या हो जाय । उसकी मानसिक स्थिति व्यवस्था के खोखलेपन की ओर केन्द्रित है । वह सड़क के किनारे से निरुद्देश्य घूमता फिरता है । वह कई साल पहले ही समझ चुका था कि इस देश के लोग और भी बेहद जाहिल और मूर्ख हैं जो कि बिना किसी कारण के हर वक्त जुलूस की शक्ल इख्तयार करने को तैयार रहते हैं ।"[1] वह कई वर्षों से मौजूदा व्यवस्था से घृणा करता आया था । वह सोचता है -"अधिकांश व्यक्तियों को परेशान और तिल-मिल मरते देख हर समय गुस्साया रहता था कि सब साले मरियल हैं, कोई हिम्मत ही नहीं करता कि इन "कुछ" को कत्ल कर दे या गोली मार दें । तब वह यह भी सोचता है कि वह खुद भी तो कुछ नहीं कर पाता, चाहे तो कत्ल कर सकता है, गोली मार सकता है । तब यह विचार उसे कोसता है कि किस वजह से वह और बाकी सब जड हो गये हैं । क्या ये किसी किस्म की मजबूरियाँ है या वे सब लोग अपनी चेतना को खो चुके हैं ।[2] वह कितनी हास्यास्पद स्थिति है कि वे सब लोग कितने-कितने वर्षों तक मुसीबतों में घिरे रहने के बावजूद भी चू नहीं कर पाते । क्या वे सब लोग बुद्धू हो ये हैं या लोकतंत्री-शासन ने उन सब लोगों को इतना सोख लिया है, जिससे वे केवल आवाज़ करनेवाले यन्त्र-मात्र हो गये हैं । वह सोचता है - इस देश में क्या सारे विश्व में हो केवल दो राजनैतिक दल है - एक अमीरों का और दूसरा गरीबों का । असली संघर्ष इन्हीं दोनों में है और दोनों एक दूसरों को हड़प लेना चाहते हैं । .... आखिर वह यह ज़रूर सोचा करता है कि चाहे और पचास वर्ष लग जायें, चाहे तब तक वह ज़िन्दा भी न रहे परन्तु

---

1. सतीश जमाली, प्रथम पुरुष, पृ.31.
2. वही, पृ.31.

अंत में दलित वर्ग जीतेगा ही । इससे उसे तसल्ली होती है । तसल्ली तक यह उसकी अपनी पहुँच है । उसे इस व्यवस्था और इसकी महनीयता के दावेदारों पर कोई भरोसा नहीं । ये किसी समय कुछ भी कर सकते हैं । बिना मुकदमों के सालों तक जेल में सडा सकते हैं । यह मुल्क तो साला जहन्नुम होकर रह गया है । और वह डरता है । यहाँ की जेल वह एक दिन भी सहन नहीं कर सकता । यहाँ की जेलों में तो जानवर भी शायद आत्महत्या की कोशिश करेंगे । वह प्रधानमंत्री की हत्या करना चाहता था । प्रधानमंत्री की हत्या से देश के करोडों लोग खुश होंगे कि उसने इतना ज़रूरी और इतना काम दिखाया । उसकी कुर्बानी हमेशा-हमेशा के लिए याद की जायेंगी । आनेवाली संतानें उसको "हीरो" के रूप में आदर करती रहेंगी । अंत में वह प्रधानमंत्री की हत्या करता है ।[1]

यद्यपि कहानी युवक के ख्यालों के माध्यम से बताई गई है फिर भी ये खयाल सिर्फ उसके नहीं समूची आम जनता की है । सत्ता के प्रति जनता का विद्रोह प्रधानमंत्री की हत्या के द्वारा दिखाया गया है ।

जलते हुए डैने

हिमांशु जोशी की कहानी "जलते हुए डैने" का शिवदा स्कूल मास्टर है । उन्होंने गरीबों की सेवा करते हुए सत्ता के विरुद्ध जनचेतना को उजागरित करता है । अकाल में शिवदा के नेतृत्व में सरकारी दफ्तरों के आगे धरना दिया जाता है, अफसरों के कारों का रोका जाता है ।

---

1. सतीश जमाली, प्रथम पुरुष, पृ. 34.

सरकारी अफ्सर कहते थे कि लोग भूख से नहीं, पौष्टिक आहार की कमी के कारण मर रहे हैं । तो शिवदा भूख से मरे लोगों के अस्थिपंजर अपने दुबले कंधों पर लाद-लादकर थाने के सामने पटककर चिल्लाता है - "यह देखो, अब भी कह सकते हो कि ये भूखे नहीं मरे ? शिवदा के दाँते भिंच जाते । आँखों में लाल डोरे उभर पड़ते ।[1] वहाँ आदिवासी क्षेत्र में भूख से नौ सौ पन्द्रह लोग मरे । सरकारी अनाज चोर बाज़ारी में बिकती रही - शहरों में । दवाएँ देखने तक को नहीं मिलीं । दुर्भिक्ष पीड़ितों ने जुलूस निकाले तो उनपर गोलियाँ बरसायी गयीं । उन्हें देशद्रोही करार दिया गया...... नेता लोग आए और फोटो खिंचवाकर चले गये । थाने के आगे धरना देनेवालों को चौराहों पर घसीटा गया । आदिवासी औरतों के साथ बलात्कार किया गया । ये सब देखकर शिवदा पागल हो गया था । वे पत्थरों पर कोयले से लिखते, बड़ी-बड़ी दीवारें रंग देते । चौराहों पर खड़े होकर भाषण देते । आपातकाल के दौर में लगान की वसूली के प्रश्न पर जो आन्दोलन छिड़ा, उससे कानून-व्यवस्था ही खतरे में पड़ गयी । आन्दोलनकारियों की धर पकड़ हुई तो सबसे पहले पुलीस की निगाह शिवदा पर ही पड़ी । बेचारे को मेमने की तरह घसीट कर ले गये और मृत्युदण्ड की सजा दी गई ।

हिमांशु जोशी ने इस कहानी में आपातकाल में उभरी जनचेतना का बारीकी से चित्रण किया है । देश भर में इस दौरान जितने अत्याचार हुए उनकी ओर संकेत करने के साथ ही सतर्क रहने का आह्वान भी करती है यह कहानी ।

---

1. हिमांशु जोशी, तपस्या और अन्य कहानियाँ, पृ. 29.

समुद्र और सूर्य के बीच

हिमांशु जोशी की ही कहानी "समुद्र और सूर्य के बीच" में भी सत्ता के विरुद्ध जनचेतना को जागरित किया गया । यह कहानी स्वप्न देखने की शैली में लिखी गयी है । कहानी का प्रमुख पात्र राजनीतिक है । वह एक भयानक सपना देखता है । सपने में उसके द्वारा किये गये अपराधों को एक-एक करके दिखाया है जो अक्सर राजनीतिज्ञ किया करते है । सपना देखकर यह डर से थर थर कांप उठता है । वह सोचता है कि उसे ज़रूर सजा आयेगी । कहानी का नायक दरअसल शोषक और अत्याचारी राजनैतिक नेताओं का प्रतीक है । उसका सपना देखकर डरना सचमुच सत्ताधारी का डरना है । कहानीकार ने स्वप्न के दरमियान उसके द्वारा किये गये अपराधों को भी दिखाया है । अपराधों की सजा उसे जनता की अदालत में मिलती है । सजा का वर्णन इस प्रकार हुआ है - "अदालत पूरी जांच-पडताल के पश्चात् इस निर्णय पर पहुँची है कि अपने चालीस साल के सक्रिय राजनीतिक जीवन में, जनसेवा के नाम पर तुमने सवा तीन करोड रुपये एकत्रित किये हैं । भ्रष्टाचार फैलाने में तुम्हारी दुहरी नीतियाँ फलप्रद रही है । अपने निहित तुच्छ स्वार्थों की पूर्ति के लिए तुमने जातीयता एवं प्रांतीयता को इस कदर बढावा दिया कि देश पुन: विभाजन की स्थिति तक आ पहुँचा है । देश को गृह-युद्ध की-सी इस भयावह अराजक स्थिति में ला खडा करने का दायित्व तुमपर है.......

न्यायाधीश अपना निर्णय उसी गति से पढता रहा - अदालत इस नतीजे पर पहुँची कि तुम्हें जितनी भी सजाएँ दी जायें, कम हैं - फिर भी तुम्हारे चेहरे पर कालिख लगाकर तुम्हें देश के कोने-कोने में भेजा

जाये, ताकि देशवासी जिनके विश्वास की तुमने हत्या की है, तुम्हें देखकर, तुम पर हंस सकें । लोगों की इतनी भर्त्सना और उपहास के पश्चात् भी तुम मर न सके, जिंदा रहे..... तो तुम्हें चाँदनी चौक के भरे बाज़ार में सरे आम फांसी की सजा दी जाये और.......[1]

निर्णय पूरा सुनने से पहले ही वह न्यायालय के फर्श पर अचेत होकर गिर पड़ता है ।

अचेत अवस्था में भी उसका स्वप्न रुकता नहीं । वह अपने द्वारा किये गये पाप कर्म को याद करता है । अपने पाप को धोने के लिए उसने "हज़ार बार हाथ धोये, पर वह लाल रंग उतर न पाया । अपनी स्वार्थ भावना से हज़ारों लोगों की हत्या की । सीमेंट के बदले रेत डलवाकर पुल बनाया, बड़े-बड़े मकान बनाये । उससे लाखों रुपये की बचत मिली । राजस्थान और बिहार के अकाल में कुल मिलाकर कितने लोग भूख से मरे थे ? कितने बीमार बच्चों की मृत्यु सिर्फ इसलिए हुई कि उनके इलाज की व्यवस्था न हो सकी । दवा न थी, दवा खरीदने के लिए पैसे न थे........[2]

सजा मिलने की सुनवाई के बाद कनॉट-प्लेस की जैसी भीड़ नहीं दिखाई देती । एक भी आदमी नज़र नहीं आता । चारों ओर

---

1. हिमांशु जोशी, तपस्या तथा अन्य कहानियाँ, पृ. 34.
2. वही, पृ. 34.

रात का-सा अंधेरा है - एक भयानक सन्नाटा । अपनी हथकड़ी की रस्सी, स्वयं अपने हाथ में थामे वह अकेला चल रहा है । कोई भी पुलीस का आदमी उसके साथ नहीं है ।[1]

यह कहानी वर्गसंघर्ष की विजय की ओर संकेत करती है । पात्र का न्यायालय के फर्श पर अचेत होकर गिरना दर असल सत्ता का पतन ही है । कहानी में देशद्रोही राजनीतिज्ञों की कैसी शिक्षा देनी है उसका भरपूर वर्णन हुआ है । स्वतंत्रता प्राप्ति के चालीस साल बीत जाने पर भी आम आदमी की कैसी दुर्दशा है, यह दिखाने के साथ ही कहानी उसके लिए जिम्मेदार सत्ताधारियों का पोल खोलने की कोशिश भी करती है । लेकिन सभी घटनाएँ अपने में घटती हैं, जो इसका संकेत देता है कि पाखण्डी राजनीतिज्ञों की सजा, पछतावा आदि कल्पना ही है, हकीकत नहीं ।

<u>आर्थिक विपन्नता</u>

इस दौर की कहानियों में आम आदमी की आर्थिक विपन्नता को सही ढंग से उभारा गया है । शहर में कम वेतन पानेवाले आम आदमी अपनी रोज़ी-रोटी के लिए तरसते हैं । सतीश जमाली की कहानी "जीव" आम आदमी की आर्थिक विपन्नता को बख़ूबी दिखाती है । साथ आवास की समस्या को भी उभारा गया है । कहानी का केन्द्रीय पात्र

---

1. हिमांशु जोशी, तपस्या तथा अन्य कहानियाँ, पृ. 33.

युवक गाँव से काम करने शहर आया हुआ है । लेकिन उसको जीने के लिए पर्याप्त तनख्वाह नहीं मिलती । युवक का कहना है -"यह शहर मेरा कभी नहीं हो सकता, कभी भी नहीं । यह शहर केवल हो सकता है, कारों का, स्कूटरों का, बड़ी-बड़ी कोठियों-बंगलों का, रेस्त्राओं का, अलसेशियन का, बुल्टकरियर का ।"[1] एक ओर आवास के लिए तरसनेवाले आम आदमी दूसरी ओर संपन्नता के विशाल-विशाल भवनें । युवक कहता है - मैं ने पहले भी बहुत बार देखी हुई रेल-भवन की विशाल इमारत को और फिर देखता हूँ । कितनी बड़ी है यह इमारत । कितने अच्छे-अच्छे लोग इसमें रहते होंगे । कितने बड़े-बड़े अफसर इसमें आते होंगे । बड़े-बड़े अफ़सर जिनके पास कई-कई कारें होंगी और बड़ी-बड़ी कोठियाँ । मेरे सामने, सड़कों के मध्य में बना फव्वारा है, जो पानी की कई हज़ार बूँदें इधर-उधर उछाल रहा है । इधर सरकारी क्वॉटरों में रहनेवाले लोगों को जीने और नहाने के लिए तक पानी नहीं । उसी स्थान पर मनोरंजन के लिए फौवारे हो सकते हैं ।[2]

वर्ग विभाजित समाज की असंगतियों और असमानताओं का चित्रण करते हुए मौजूदा पूँजीवादी व्यवस्था के प्रति पाठक के मन में गहरी वितृष्णा और घृणा उत्पन्न करना ही कहानीकार का लक्ष्य है । आर्थिक क्षेत्र की असंगतियाँ वर्गों की आपसी खाई को और बढ़ाती हैं, सत्ता की तरफ़ से इस खाई को मिटाने की कोशिशें नहीं हो रही है बल्कि ऐसी हरकतों में वे मशगूल हैं जिससे वह चौड़ी होती जा रही है । बढ़ती आ रही बेकारी की समस्या तथा निरंतर शोषण के शिकार बनते युवा जनों की दर्दनाक ज़िन्दगी का भी बेबाक चित्रण कहानी में हुआ है ।

---

1. सतीश जमाली, प्रथम पुरुष, पृ. 51.
2. वही

साठोत्तरी कहानी वर्तमान सामाजिक परिस्थितियों का मात्र यथार्थपरक एवं प्रामाणिक चित्र ही प्रस्तुत नहीं करती बल्कि सामाजिक अन्याय, अनैतिकता व भ्रष्टाचार के प्रति तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए जीवन की कठिन परिस्थितियों तथा जहरीले परिवेश में छटपटा रहे सामान्य व्यक्ति की जिजीविषा को सम्बल प्रदान करती है तथा उसे जीवन के प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना करने के लिए तैयार करती है । ये कहानियाँ मानवीय मूल्यों को प्रश्रय देकर उसकी पुनः स्थापना के लिए जागरूक दृष्टि प्रदान करती है । इसके लिए कहानीकारों ने सामाजिक यथार्थ की सही पहचान की और परिवर्तित जीवन-मूल्यों का खुली दृष्टि से मूल्यांकन किया । प्रगतिशील दृष्टि ने कहानीकारों को मौजूदा व्यवस्था में जीवित आम जनता की बदतर हालातों पर सक्रिय दृष्टि रखने को बाध्य किया । फलतः उन्होंने सामाजिक अन्तर्विरोधों को आत्मसात कर वर्ग संघर्ष की खुली अभिव्यक्ति भी दी ।

समाज की समस्यायें

प्रगतिवादी कहानीकारों ने अपनी कहानियों में सामाजिक समस्याओं को हूबहू उतार दिया है । सुभाष पंत की कहानी "दो धरातलों के बीच" में इसका चित्रण है कि मध्यवर्ग को जीने के लिए अपनी अस्मिता तक को गंवाना पड़ता है । उसे एक ओर अपनी पत्नी का एक बूढे डाक्टर के साथ के अनैतिक संबंध को सहना पड़ता है तो दूसरी ओर अपने जूनियर के प्रमोशन होने से मानसिक संघर्ष से गुज़रना पड़ता है । फलतः अपनी स्थिति से समझौता भी करना पड़ता है । जूनियर जो अब उससे भी बड़ी हैसियत में है, दरअसल

उसके साथ रिसर्च कर रही थी । यह ख्याल आते ही अनुसंधान इनस्टिट्यूट के प्रति उसके मन में घृणा उत्पन्न होती है । वह सोचता है -"बास्टर्ड..... पर यह सब कैसे हो गया है ? आखिर उसके अन्दर कौन-सी कमी है ? बस यही न कि उसके दो उभरे वक्ष नहीं है और दो टाँगों के बीच.....? यह साला रिसर्च इनस्टिट्यूट है या वेश्यालय....?[1]

अपने जूनियर के जाने के बाद वह फाइल ज़ोर से मेज़ पर पटका देता है । वह निर्णय लेता है कि अब और ज़्यादा शोषण होने नहीं देगा । दर असल वह हर बार समझौता करता आया है और इन समझौतों से उसकी शख्सियत पूरी तरह भंग हो गयी है । पर अब समझौता नहीं करेगा । आग लगा देगा इस ऑफिस को । पथराव करके इसके सब शीशे तोड देगा । वह इस नौकरी को छोड देगा और कहीं पान की दूकान खोलकर बैठ जायेगा ...... मज़दूरी कर लेगा .... । यों सोचते हुए उसने बीसवीं सिगरेट सुलगाई ।[2] लेकिन बेबस और कमज़ोर व्यक्ति कुछ भी नहीं कर सकता । वह न नौकरी छोड सकता न अपनी पत्नी को नौकरी के लिए भेजने से रोक सकता।

इस कहानी की खासियत यह है कि इसमें व्यक्ति के यथार्थ हालत के अंकन के द्वारा अस्त-व्यस्त व्यवस्था का सूक्ष्म आकलन हुआ है ।

---

1. सुभाष पंत, तपती हुई ज़मीन, पृ. 90-91.
2. वही, पृ. 91.

सुभाष पंत की ही और एक कहानी है "पटाक्षेप" । इसमें कम वेतन पानेवाले एक सरकारी क्लर्क की आर्थिक पराधीनता दिखायी गयी है । वह इतना गरीब है कि वर्षों बाद अपनी प्रेमिका से मुलाकात होने पर आर्थिक पराधीनता से उसे चाय तक दिला नहीं सका ।

बुरी आर्थिक हालत के कारण उसके मन में रोमांस की बात तक नहीं आती । वह सोचता है -"रोमांस-वोमांस की बात उसके दिमाग में उभरता ही नहीं...... बिलकुल नीरस ठूँठ । निर्धन को रोमांस का अधिकार तक नहीं ।[1] उसका कहानीकार ने बेहद दिलकश चित्रण किया है -"हम चुप-चाप चल रहे थे । कुछ बात करनी चाहिए, मैं ने सोचा । दर असल बात यह थी कि दस-बारह साल से क्लर्की करते और कलम घसीटते मैं इतना टाइप हो गया था कि "यस सर", यह हो जायेगा साहब, "जी बहुत अच्छा", और "युवर्स फैथफली" शब्द ही मेरी जबान पर आते थे । इनके अलावा कुछ और बोलना मुझे अटपटा लगने लगता, जैसे मैं अपनी मातृभाषा में नहीं किसी और भाषा में बोल रहा हूँ । मेरा सारा शब्द भण्डार चुक गया था । काफी शर्मनाक स्थिति में थी ।[2]

उसे क्लर्की से ही नहीं, पूरी व्यवस्था से सख्त नफरत है । वह सोचता है -"मुझे इस व्यवस्था से सख्त नफरत है..... सख्त नफ़रत । पर आज कभी का वह क्रांतिकारी नज़रिया अंतत: कितना फुसफुसा, कमज़ोर

---

1. सुभाष पंत, तपती हुई ज़मीन, पृ. 92.
2. वही, पृ. 94.

बेमानी सिद्ध हुआ है.....[1]

अंत में उसकी आर्थिक विपन्नता उसे यहाँ तक सोचने में मजबूर करती है कि दस रूपये बच गये थे । यह नैट गेन था, मैं ने सोचा । घर के लिए आटा-सब्जी खरीद लूँ । आखिर बोझ तो मुझे ही ढोना है ।

पूँजीवादी व्यवस्था में पैसे की ही हैसियत होती है । पैसे के हैसियत बढ़ती या घटती जाती है । और पैसे के अभाव में मानव के रागात्मक संबंधों तक में दरारें पड़ती है । इतना ही नहीं, इस व्यवस्था के हालातों की वजह आम आदमी की अपनी भाषा तक को खो देने पड़ता है, इतना ही नहीं भाषा भी शोषण के साधन के रूप में तब्दील हो जाती है ।

वर्ग विभाजन और मज़दूर आन्दोलन

समकालीन प्रगतिवादी कहानीकारों ने वर्गों में बंटे समाज का यथार्थ व बेबाक चित्रण किया है । यहाँ एक ओर अट्टालिकाओं में रहनेवाले सुविधाभोगी वर्ग है तो दूसरी ओर उन लोगों की सुविधाओं को जुटाने में व्यस्त गरीब लोग भी रहते हैं । सतीश जमाली की कहानी "प्रथम पुरूष" में सुविधाभोगी वर्ग और बदतर जीवन बितानेवाले मज़दूर वर्ग

---

1. सुभाष पंत, तपती हुई ज़मीन, पृ. 95.

दोनों को दिखाया है । उसमें फूलों को पसन्द करनेवाली मालकिन है जो केवल फूलों के बारे में सोचती रहती है । कथावाचक मालकिन के बगीचे में काम करनेवाला नौकर है । कहानी में मालिक व नौकरों की ज़िन्दगी का बहुत ही मार्मिक चित्रण हुआ है -"यहाँ बाग के इन फूलों के बगीचे के एक तरफ़ दक्खिन में पशुओं के लिए कुछ जगह छोड दी गयी थी, जहाँ साथ ही मालियों के लिए झोंपडी-नुमा फूस के क्वार्टर थे दूसरे नौकरों के लिए भी इन्हीं बगल में क्वार्टर थे, जिनके ऊपर टीन के शेड थे ।[1]

इस कहानी में पूँजिपति वर्ग के टाइम गुज़ारने के वास्ते फूल पालने का शगल [hobby] और मज़दूर वर्ग की विवशताओं को समांतर ढंग से उभारा गया है । मालिकों की मौजमस्ती के वर्णन के साथ मज़दूरों की अपनी मांग को लेकर जो हड़ताल होती है उसका भी वर्णन हुआ है ताकि पाठक वर्ग विभाजित समाज के अंतर्विरोधों से वाकिफ हो जाय और उसके प्रति घृणा भी उत्पन्न हो जाय । यानी कहानी सृजन के पीछे अवश्य एक उद्देश्य अंतर्निहित हुई है ।

आलोच्य दशक की कहानी वर्ग संघर्ष की कहानी ही नहीं बल्कि शोषण और व्यवस्था विरोधी भी है । कहानियाँ एक तरफ़ मज़दूर वर्ग की समस्याओं व शोषण उकेरती रही हैं तो दूसरी तरफ़ आम आदमी

---

1. सतीश जमाली, प्रथम पुरुष, पृ. 108.

की हैसियत को हड़प लेनेवाली भ्रष्ट सामाजिक व राजनैतिक-व्यवस्था के नकली चेहरे को भी उघाड़ती रही हैं । रमेश उपाध्याय और सतीश जमाली की अधिकांश कहानियों में मज़दूर वर्ग और पूँजीपति वर्ग आते हैं । इन कहानियों में मज़दूर वर्ग की आर्थिक विषमताओं, विवशताओं की अभिव्यक्ति के साथ ही मेहनतकश, ईमानदार तथा संघर्षशील पात्रों की अवधारणा भी हुई है जो वाकई है । रमेश उपाध्याय की कहानी "देवी सिंह कौन है", मज़दूर और फाक्टरी मालिक के रिश्ते को यानी पूँजीपति वर्ग की चालाकी तथा मज़दूर वर्ग के संघर्ष को बड़े संवेदनशील व रोचक ढंग से प्रस्तुत करती है । इसमें मज़दूर वर्ग में बल पकड़ती सजगता को तरह-तरह के चित्र देकर उभारा गया है, वहीं पूँजीपति प्रशासन की धूर्त चालों को बेनकाब भी किया गया है जो मज़दूर वर्ग संघर्ष को तोड़ने में लगे रहते हैं । फिर भी निरंतर बढ़ती मज़दूर वर्ग की सजगता और एकता पूँजीपति वर्ग के लिए अवश्य खतरा है । कहानी में मज़दूर वर्ग की एकता को विफल बनाने में प्रयत्नरत पूँजीवादी ताकतों के कुतंत्रों को भी दिखाया गया है ।

प्रगतिवादी कहानीकारों ने अपनी मज़दूरों के आन्दोलन का भी सजीव चित्रण किया है । सतीश जमाली की कहानी "युद्ध" मज़दूर आन्दोलन का समर्थन देता है । यह कहानी मज़दूरों पर, किये जानेवाले अन्याय और अत्याचार की ज्वलंत मिसाल है । फैक्टरीवाले मज़दूर मौजीराम को बिना कारण नौकरी से हटा देता है । इस पर क्रुद्ध होकर मौजीराम आक्रामक हो जाता है । बरकरार मज़दूर यूनियन के खोखलेपन से तंग आकर

वहाँ एक तीसरा यूनियन संगठित करता है । उसके नेतृत्व में हड़ताल होती है । मौजीराम को नौकरी में वापस लेने के लिए अनेक मज़दूर हड़ताल में भाग लेते हैं । अगले दिन फैक्टरी के सामने मज़दूर जमा हो जाते हैं । तब मालिक की कार आती है । तब मौजीराम आक्रोश करता है - युद्ध । इस प्रकार यह कहानी मज़दूरों के हक के लिए खुले तौर पर आन्दोलन चलाने का आह्वान देती है ।

सतीश जमाली की अन्य कहानियों में भी सर्वहारा वर्ग सीधे अपने विरोधी-वर्ग पर चोट करते हुए "युद्ध" का आह्वान करता है । जैसे सूचित किया गया युद्ध कहानी मिल मज़दूरों के शोषण तथा पूँजीपति वर्ग की अनीतियों का लेखा-जोखा प्रस्तुत करती है । मज़दूरों की एकता और संघर्ष को तोड़ने के लिए मिल मालिक मज़दूरों की यूनियन तक को खरीद लेता है । मौजीराम अकेला ही इसका विरोध करता है । सचेत मज़दूरों के इस संघर्ष को, मिल मालिकों के हिंसक हथकंडे तथा मज़दूरों की आर्थिक विषमताएँ पीछे की ओर घसीटते रहते हैं फिर भी मौजीराम समझौता न करके जूझता हुआ आगे बढ़ता है ।

इन दो दशकों की कहानी की प्रमुख प्रवृत्ति सचमुच संघर्ष चेतना रही है । समाज के दलित वर्ग के प्रति अपनी पक्षधरता जाहिर करती है और आम जनता की चेतनशील मानस और दिशा-दृष्टि को भी

प्रस्तुत करती है । अधिकांश कहानियाँ वर्ग-संघर्ष के चित्रण पर अधिष्ठित हैं । पूँजीपति तथा भ्रष्ट व्यवस्था के खिलाफ तीव्र आक्रोश और विद्रोह का चित्रण भी मिलता है । पूँजीपति ताकतों के खिलाफ चेतना उभारने तथा सामूहिक संघर्ष की ज़रूरत पर भी ज़ोर दिया गया है । कहानियाँ आम आदमी को अपने अधिकारों के प्रति सचेत कराती है और उसे शोषण से उबरने के लिए सहारा भी देती हैं । शोषक वर्ग के प्रति अपना रोष प्रकट करती हुई सामूहिक संघर्ष का आह्वान करती है । यानी कहानियाँ वर्ग संघर्ष को रण भूमि जन मानस में तैयार करती हैं याने उन्हें मानसिक मज़बूती देती है और संघर्ष के लिए तैयार कराती है । दर असल कहानी का अन्ततोगत्वा प्रगतिवादी कहानी का मकसद बरकरार व्यवस्था का जबरदस्त बदलाव ही है ।

क्रांति का समर्थन

प्रगतिवादी कहानीकार हमेशा क्रांति का समर्थन करते आये हैं । विशेषत: सन् 1960 ई. के बाद की कहानियाँ व्यवस्था को बदलने के लिए क्रांति को पूरा समर्थन देती आई है । जनवादी कहानी में क्रांति का समर्थन ज़्यादातर दिखाई पडता है । सतीश जमाली की कहानी "सत्ताधारी" क्रांति के समर्थन का प्रामाणिक दस्तावेज़ है । सचमुच यह कहानी नक्सलबाडी क्रांति से प्रभावित है । इस कहानी के तीन पात्र - सुबमिल, अमलेंदु और कथावाचक क्रांतिकारी हैं । तीनों नक्सलपंथी हैं । वे शहर के एक शोषक सेठ की हत्या करता है । लौटते समय वे देखते हैं कि रास्ते में पुलीस और लोगों में लडाई चल रही हैं । वे अपने हाथ के हथगोले फेंकने लगते और पिस्तौल का

भी इस्तेमाल करते हैं ।

कहानीकार क्रांति का समर्थक है । "यह लडाई आज खत्म हो जानेवाली नहीं है, यह लडाई बीस साल-चालीस साल तक चल सकती है । वे ये लडाई लडते-लडते बूढे तक हो सकते हैं ।[1]

सतीश जमाली की कहानी "अर्थतन्त्र" आज की विसंगत स्थितियों के गिरफ्त में जीते व्यक्ति के आक्रोश और तिलमिलाहट को अभिव्यक्त करती है । कहानी का नायक देश की पूरी व्यवस्था से बेचैन है और उससे घोर घृणा करता है । उसे लगता है कि आम जनता की समझौता परस्ती की राह से खींचकर ले जा रही है और यथास्थिति चाहनेवाले लोगों की चेतना बंद हो चुकी - "यह कितनी हास्यास्पद स्थिति है कि वे लोग कितने-कितने वर्षों तक मुसीबतों में घिरे रहने के बावजूद भी चू तक नहीं कर पाते - उसे लगता है कि विश्व में दो ही दल है -"एक अमीरों का दल दूसरा गरीबों का । वह परेशान है कि लोग भ्रष्ट पुलीस, मंत्री, व्यवस्था के खिलाफ क्यों नहीं लडते ? क्योंकि उनकी मनोवृत्ति हिजड गयी है ? नायक पूरी व्यवस्था के खिलाफ सक्रिय संघर्ष करनेवालों का प्रतीक है जो जनता की नपुंसकता पर रोष प्रकट करता है । आम जनता की, भीड की चेतन विहीन मनोवृत्ति को कहानी में मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया गया है ।

---

1. सतीश जमाली, प्रथम पुरुष, पृ. 90.

निष्कर्षतः यही बता सकते हैं कि अपनी सर्जनात्मक उपलब्धियों से प्रगतिवादी कहानी के मूल ढाँचे में परिवर्तन करती हुई नई ज़मीन की तलाश में रही है । परंपरा की तुलना में समझ में आता है, उसकी सोच और जीवन बोध में गहरा परिवर्तन हुआ है ।

यानी व्यापक परिवर्तन इस दौर में द्रष्टव्य है । कहानी साहित्य व्यक्ति पक्ष को पूर्णतः नकार कर समष्टिगत चिंतन को पूर्णतः आत्मसात् किया । निषेध का स्वर यद्यपि इस समय की कहानियों में दिखाई पड़ता है । लेकिन कहानी निषेध तक सीमित नहीं है । यह निषेध आम आदमी को पर्याप्त स्थान देने का सफल प्रयास हुआ । कहानी सामाजिक यथार्थ की ओर अधिक उन्मुख हो गई । एक ओर इस दौर की कहानियों में आम आदमी के जीवन को पहली बार व्यापक रूप से प्रश्रय मिला तो दूसरी ओर कहानी के ज़रिये सामाजिक सत्य भी उद्घाटित हुआ । कहानी व्यापक जीवनानुभवों से बनी है । इसलिए इसमें अनुभूति की सच्चाई व गहराई अपने आप आ भी गयी है । जीवन भर पराजय व दुःख भोगनेवाले लोगों को अपने अधिकारों से अवगत कराने में कहानी सफल निकली । अतः कहानी को आम आदमी के हक के प्रति लड़ने के लिए एक कारगर हथियार के रूप में इस्तेमाल किया गया ।

कहानी समकालीन परिस्थितियों एवं समस्याओं के प्रति प्रगतिशील दृष्टिकोण अपनाती हुई जागरूक, सजग एवं संवेदनात्मक कथा चेतना

को विकसित किया । कहानी के पात्र प्रगतिशील है । उन्हें समस्याओं या स्थितियों की पूरी जानकारी भी रहती है । इस दौर की कहानियों के क्रम को संवेदना से चेतना स्तर तक की अंतर्यात्रा भी माना जा सकता है ।

कहानी परिवर्तनों की दिशा-सूचि देती है जो परिवेशगत बदलाव को स्पष्ट रेखांकन करती है । इस दौर की कहानियों में पूर्ववर्ती कहानी की मूल्य-दृष्टि, आदर्श तथा अतीत के प्रति मोह का बन्धन जो था वह वाकई नहीं है । इनमें परंपराओं व नैतिक मूल्यों के चोले उतारकर सामान्य जीवन से बन्धे जीवन के संक्रमण को पूरी सच्चाई से पेश किया गया । आधुनिकता के नाम पर परंपरा, आदर्श, नैतिक और सकारात्मकता के तमाम कपड़े उतारकर कहानी सामान्य जन-जीवन से जुड़ी रही । कहानी वैचारिक सक्रियता के साथ ईमानदार संवेदना का निर्वाह कर प्रामाणिक तथा यथार्थवादी बनी है । कहानी ने आम आदमी के संघर्ष को रचनात्मक आयाम प्रदान किया। आम जनता की रोज़मर्रा ज़िन्दगी तथा उससे जुड़ी हुई समस्याओं और संघर्षों को उकेरा और कहानी के केन्द्र में रखा गया । इसमें वर्ग संघर्ष तथा राजनीतिक संघर्ष को प्रमुखता दी गई । कहानी की चेतना क्रांतिधर्मी चेतना है जो मानव अस्तित्व पर आघात पहुँचानेवाली किसी प्रकार की शोषक व्यवस्था का, चाहें वह सामन्तवादी, पूँजीवादी, साम्राज्यवादी तथा छद्मवेशी साम्राज्यवाद ही क्यों न हो, का विरोध करती है और जन-समुदाय को जागृत करती है, विरोधियों के विनाश के लिए सक्रिय कदम उठाती है । कहानी ने आदमी की समस्यायें और उसकी बदतर स्थितियों को ईमानदारी से प्रस्तुत किया ।

सामान्य जन की कहानी में वैचारिक स्पष्टता जाहिर है । सामान्य जन को शोषण करनेवाली व्यवस्था के खिलाफ संघर्ष और व्यवस्था के परिवर्तन के लिए जो सामूहिक संघर्ष चलता है उन दोनों को प्रश्रय दिया गया है । इसके तहत मज़दूर, किसान, शोषित व्यक्ति, नारी की संघर्षशील स्थितियों का यथार्थपरक एवं रचनात्मक अंकन प्रस्तुत हुई है । कहानीकारों ने तत्कालीन परिवेश का सही पहचान देने का अथक परिश्रम किया । यह ढूँढ निकाला गया कि हमारे देश के आम आदमी को नपुंसक, पस्त, विचारशून्य बनाने के लिए जिन हथकण्डों का प्रयोग विदेशी ताकतों ने किया उन्हीं का प्रयोग स्वदेशी सत्ता द्वारा किया जा रहा है । जनता व्यवस्था के आश्वासनों, नारों व वायदों के भ्रमजाल में आज़ादी के बाद भी बराबर भटक रही है । इस युग की कहानी ने आम आदमी की बेबसी, वैचारिक निहत्थेपन और नपुंसकता से निजात दिलाकर पहले स्वयं अपने अन्दर की कमज़ोरियों के खिलाफ खड़ा होने के लिए आम आदमी को शक्ति प्रदान की । कहानी ने यह जिम्मेदारी स्वयं स्वीकार की कि साहित्य संकल्प और प्रयत्न के बीच की दरार को पाटने का एक ज़रिया है ।

पाँचवाँ अध्याय

प्रगतिवादी कहानी का अभिव्यक्ति पक्ष

प्रगतिवादी कहानीकार वस्तु और रूप को अलग अलग मानने के पक्ष में नहीं थे । वे वस्तु और रूप के संयोग में ही साहित्य और कला की चरितार्थता को पाते थे । उन्होंने वस्तु तत्व को प्रमुखता देकर रूप तत्व की आपेक्षिक सक्रियता की स्वीकृति भी दी है । वस्तुतः साहित्य रचना में वस्तु और रूप के परस्पर अविच्छिन्न संबंध में ही कला की यथार्थता चरम-लक्ष्य प्राप्त करती है । लगभग सभी प्रगतिवादी साहित्य व कला विचारकों ने वस्तु तथा रूप की अभिन्न सरोकार को मान्यता दी है । रचना सिर्फ बाह्य संवार से पूर्णतः प्रभावशाली नहीं बनती । प्रभाव तभी संभव है जब आधार शक्तिशाली होता है । अतः आधार ही मुख्य है । "अनतोले लुनाचरस्की" का कथन है -"अन्ततः आधार को ही नियामक मानने चाहिए । वस्तु और रूप तत्व के विश्लेषण में वस्तु तत्व ही कला और साहित्य का नियामक तत्व है । लेकिन प्रगतिवादी साहित्यकारों पर यह आरोप हुआ कि वे शिल्प के प्रति उदासीन है और वस्तु तत्व को प्रमुखता दी है । लेकिन प्रगतिवादी साहित्य के सही अवलोकन और विश्लेषण से पता चलता है कि उनकी उदासीनता रूप तत्व के प्रति नहीं थी बल्कि रूपवाद के प्रति थी ।

---

1. Antoly Lunacharsky - On literature and Art, P.44. "And so the Marxist Critic takes first of all as the object of his analysis the content of the work the social essence which it embodies."

आधुनिक हिन्दी कहानी के क्षेत्र में प्रगतिवादी शिल्प दृष्टि का पैगम्बर प्रेमचन्द है । प्रेमचन्द ने सबसे पहले कहानी को प्रसाद के कलावादी स्कूल से मुक्त किया और शिल्प को प्रगति की दिशा में प्रतिष्ठित किया । इसके संबंध में लक्ष्मण दत्त तिवारी ने अपना अमूल्य वक्तव्य यों जाहिर किया है - "आधुनिक हिन्दी कहानी में पहली बार प्रेमचन्द ने कलावाद का विरोध करके उसे "सत्य" और "शिव" के आसन पर बिठाया ; "सौन्दर्य" को व्यापक अर्थ में लेकर उसे जीवन की धड़कन दी ; अपने विचारों की कठिन साधना को व्यावहारिक जामा पहनाकर कलाकार से अपेक्षित दायित्व को निभाया और सामाजिकता को एक अनिवार्य धर्म मानकर आज के उपेक्षितों एवं कल के उपेक्षितों को दिया ।[1] यशपाल की दृष्टि में भी सामाजिक जीवन की प्रगति का एकमात्र आधार भौतिक है । भौतिक आधारों में जीवन, कला और संस्कृति में भी परिवर्तन होना ज़रूरी है । प्रगतिशील कलाकार का धर्म है कि जन-जीवन के "स्वत्व" की सुरक्षा के लिए वह बरकरार कला व साहित्य की पूर्वनिर्धारित व्यवस्था का विरोध करें । यशपाल के अनुसार -"कला रूप बन्ध में कथ्य पहले हैं कथन बाद में, "अर्थ मूर्धन्य, वाक् गौण है ।"[2] इस प्रकार हमें यह मालूम होता है कि कलावाद का विरोध प्रगतिचेतना का पहला मानदण्ड है । शिल्प के क्षेत्र में प्रगतिवादी कहानी की अपनी अलग पहचान है । इसको समझने के लिए शिल्प के विभिन्न तत्वों का विस्तार से अध्ययन सहायक है ।

---

1. डा. लक्ष्मणदत्त गौतम, आधुनिक हिन्दी कहानी में प्रगति चेतना, पृ. 147.

2. वही, पृ. 191.

भाषा

मार्क्सवादी कलामर्मज्ञों ने भाषा की शक्ति और क्षमता के लिए जनजीवन की गहराई में प्रविष्ट होने की बात कही । उनके अनुसार भाषा के सबसे जीवन्त रूप को जन जीवन के बीच में समेटना है । साहित्यकार के जीवनानुभव में भाषा स्वयं बनती है । उन्होंने भाषा की जटिलता और दुरूहता के बोझ से मुक्त किया । क्योंकि उन्हें मालूम था कि जटिल दुरूह भाषा में कथ्य का संप्रेषण पूर्ण नहीं हो सकता । अतः उन्होंने संप्रेषणीयता की दृष्टि से भाषा में नवीनता की आवश्यकता पर ज़ोर दिया और भाषा को जनता के दैनंदिन जीवन से संबद्ध कर दिया । स्पष्ट है कि भाषा को ऊपर जो पूँजीवादी ताकता बराबर बरकरार थी उसकी समाप्ति अनिवार्य है । जनता अपनी भाषा में ही स्वतंत्र हो सकती है । अबतक जो भाषा उनपर शासन करती आ रही थी वह उनके अन्तर्मन के निषेधों को मौन करती रही । भाषा में प्रगति चेतना का आह्वान करके साहित्यकारों ने जनता के अन्दर के निषेधों को मुखर किया । पूर्व निर्धारित पूँजीवादी भाषा मज़दूरों, कामगारों और किसानों को अपने हक से वंचित करती रही थी, अब वह भाषा निष्प्रभ होने लगी । भाषा प्रगतिचेतना में प्रविष्ट होकर भाव संप्रेषण के लिए पूर्णतः कामयाब हो गयी । जनता अपनी भाषा के ज़रिये स्वयं सोचने के लिए काबिल हुई और उनकी अन्तर्चेतना की प्रगति सफल होने लगी । वे स्वयं अपनी अस्मिता की पहचान करने लगी । भाषा में इस प्रकार एक नये आयाम की ओर प्रस्थान एक क्रांतिकारी उपलब्धि मानी जा सकती है । फलतः कह सकते हैं कि भाषा ने कहानीकारों को अभिव्यक्ति के नये धरातल प्रदान किए ।

पहले कहा गया है कि प्रगतिवादी कहानीकारों की भाषा साधारण बोलचाल की भाषा की ओर उन्मुख रही है । सन् 1960 ई. के बाद की कहानियों में इस प्रवृत्ति का स्पष्ट संकेत द्रष्टव्य है । इस प्रवृत्ति ने कहानी में भावुकता के अतिरेक को समाप्त कर दिया । इस दौर के कहानीकारों के प्रयत्न से भाषा एक सदानीरा बन गयी जो वस्तुस्थिति को पूर्णतः व्यक्त कर चुकी थी । इन्होंने भाषा को प्रभावशाली बनाने के लिए उर्दू शब्दों के प्रयोग का सहारा लिया जो आम आदमी की भाषा में स्वाभाविक रूप से आते हैं । इससे उन्हें एक दिलचस्प भाषा के निर्माण में पूरा सहयोग मिला । सतीश जमाली की कहानी अर्थतंत्र का वाक्य देखिए -"यह मुल्क तो साला जहन्नुम होकर रह गया ।"[1] सुभाष पंत की कहानी "लाश में" "मास्टर जी निहायत शरीफ आदमी थे ।"[2] इस प्रकार भाषा के सीधे-सादे प्रयोग से कहानी प्रभाववान बनने लगी । कहानीकारों की भाषा प्रवाहशील है वह कहीं रुकती नहीं, बहुत तेज़ी से आगे बढ़ती है और पाठकों को सोचने के लिए मजबूर करती है । कहानी से वस्तुस्थिति और परिस्थिति की जटिलता का एहसास अनायास प्राप्त होता है और पाठक संवेदना की गहराई में प्रविष्ट भी हो जाता है । इसके साथ वातावरण को यथार्थ रूप में प्रस्तुत करने की क्षमता भाषा में अपने आप आ भी जाती है । सुभाष पंत की कहानी "लाश" के वाक्य देखिए -"तुम सदा से ही समझौते करते आये हो, इसी वजह से हमारी यह हालत है । पर तुम ऐसा नहीं कर सकते कि हमारे लिए चार रस्सियाँ खरीद लाओ..... हम चारों ही उनपर झूलकर आत्महत्या कर लेंगे । जान का क्लेश ही मिट जाएगा । डेढ सौ रुपये

---

1. सतीश जमाली, प्रथम पुरुष, पृ. 34
2. सुभाष पंत, तपती हुई ज़मीन, पृ. 19.

लेते हो, तो भी बखत पर नहीं..... मुँह पर जैसे सीमेंट जम गया हो ।" पत्नी तमककर फुफकारती है ।"[1] मधुकर सिंह की कहानी "आषाढ़ का पहला दिन" में किसान सभा के सिहुलीराम ने ऐलनिया के तौर पर कह दिया, भाई रे । तो चाहे जेहल में सड़ना पड़े, चाहे बन्दूक की चोट पर मरना पड़े, इस साल आसाढ़ में खेत पर हल चढ़ेगा । बरदाश्त करने को भी कोई सीमा होती है । सन् 78 से आज तक कोट-कचहरी में ईख की तरह पेराई होती रही है । ऊपर से आग लगे, सुअरों की तरह खेदा - हम भी आदमी है कि नहीं । बंटाईदारी कानून और न्यूनतम मज़दूरी का धोखा सिर्फ हमें पेरने के लिए खड़ा किया गया है । भीतर-भीतर सभी अपने ही कानून का विरोध कर रहे हैं । समझौते क्यों नहीं कि ये लोग कौन है ।[2] कहानीकारों ने इसलिए सहज सामान्य भाषा का प्रयोग किया ताकि वे जीवनानुभव के यथार्थ को प्रमाणित कर सके । भाषा कथ्य की बारीकियों को स्पष्ट करने में सहायक हुई । डा. धनंजयवर्मा ने साठोत्तरी पीढ़ि की कहानियों की भाषा के बारे में बताया है - वस्तुत: आज की कहानी में जिस भाषा की पहचान हुई है, वह परिवेश की तीखी सच्चाईयों को व्यक्त करने में सक्षम हैं । भाषा सपाट होने के बावजूद इस में ऐसा बाहरीपन है जो प्रामाणिक अनुभवों को कहानीकार की चेतना से भिन्न स्तरों की ओर ले जाकर एक बृहत्तर सार्थकता का स्वरूप प्रदान करता है ।"[3] इन कहानियों की भाषा में कोई कृत्रिमता नहीं और भाषा अमित साहित्यिक प्रभाव से बोझिल भी नहीं है । कहानी के पात्र अपने पेशे, स्वभाव व

---

1. मधुकर सिंह, आषाढ़ का पहला दिन, पृ. 9.
2. मधुकर सिंह, आसाढ़ का पहला दिन, पृ. 9.
3. डा. धनंजय वर्मा, आज की हिन्दी कहानी, पृ. 92.

शिक्षा-दीक्षा के अनुसार भाषा को लेते हैं । सरकारी अफ़सर कहते हैं कि लोग भूख से नहीं पौष्टिक तत्वों की कमी के कारण मर रहे हैं, तो "शिवदा भूख से मरे लोगों के अस्थिपंजर अपने दुबले कंधों पर लाद-लाद कर थाने के सामने पटक कर कहता है -" यह देखो अब भी कह सकते हैं कि ये भूखे नहीं मरे शिवदा के दाँते भिंज जाते । आँखों में लाल डोरे उभर पडते ।"[1] यहाँ सत्ता के खोखले प्रचार का पोल खोल कर दिया । कहानीकारों का कहानी लिखने का अपना तरीका है । उसके लिए उन्हें साधारण भाषा की आवश्यकता है । नामवर सिंह का कथन है - कहानी के रूपाकार और रचना विधान की दृष्टि से कहानियाँ एक अरसे से उपभोग में आनेवाले कथागत साज संवार को एक बारगी उतारकर काफ़ी हल्की हो गयी हैं - "हल्की, लघु और ठोस ।"[2] कहानीकारों की भाषा गद्य का अत्यन्त निखरा रूप है । भाषा में उलझन व भटकाव नहीं भाषा कहानी में परिस्थिति के अनुकूल होती है । डॉ. बलराज पाण्डेय के शब्दों में - "नई कहानी की भाषा की दुरूहता को इन कहानीकारों ने एकदम खत्म कर दिया है और भाषा सहज, सामान्य हुई है ।"[3]

पहली बार ऐसा हुआ कि कहानी ने जीवन मूल्यों की निरर्थकता की खोज में न भटककर उस भाषा की खोज की जो जीवन और उससे सम्बद्ध मूल्यों के अन्वेषण के आग्रह से पूर्ण रहती है । मधुकर सिंह, मिथिलेश्वर, सुभाष पंत, हिमांशु जोशी आदि ने साठोत्तरी कहानी की भाषा को अपनी

---

1. हिमांशु जोशी, तपस्या और अन्य कहानियाँ, पृ. 29.
2. डा. नामवर सिंह, कहानी नई कहानी, पृ. 286-87.
3. डा. बलराज पाण्डेय, कहानी आंदोलन की भूमिका, पृ. 178.

अलग पहचान दी । यह अलग पहचान आम जनता के जीवन की समस्याओं को संवेदना से व्यक्त करने में कामयाबी पायी । "हरिजन सेवक" कहानी में भाषा की अलग पहचान इस प्रकार व्यक्त हुई – मालिकों ने जब सुना कि सरकार उनसे अनाज लेवि के रूप में वसूल करते जा रही है । तब उन्होंने सरकार का बदला हमसे लेना शुरू कर दिया । पहले हमें वे सोलह कट्ठा ज़मीन जोतने के लिए और तीन सेर धान रोज के हिसाब से मंजूरी देते थे । महँगाई में हमारा पेट नहीं चलता है । हम इसके बदले दो बीघा ज़मीन और तीन सेर चावल मांगते थे । मालिक तैयार नहीं थे । वे सोचते थे कि भूख से बिलबिलाने पर वापस आयेंगे ।"[1] इस तरह साठोत्तरी कहानी की भाषा कथ्य संप्रेषण में पूर्णतः सहयोग करती है । इन कहानीकारों की भाषा ज़िन्दगी के आसपास की भाषा है । कहानी में वातावरण और कहानी दोनों एक साथ चलते हैं । कोई गत्यवरोध नहीं हैं । मिथिलेश्वर की भाषा देखिए – इस महंगाई के ज़माने में उनके लिए बाबू दोनों जून रोटी जुटा देते हैं यह क्या कम है ? कपड़ों के लिए बाबू पैसे कहाँ से जुटायेंगे ? बाबू के पास है क्या ?[2]

डा. पुष्पपाल सिंह के अनुसार भाषा मानव मन के बारीकियों को अत्यंत मर्मस्पर्शी रूप में अभिव्यक्त करती हैं । भाषा कथ्य के अनुरूप ही स्वरूप ग्रहण करती है और वह सर्जनात्मक प्रक्रिया का एक अविभाज्य अंग है । आधुनिक कहानी ने जिस जीवन-यथार्थ को अपना कथ्य बनाया या यथार्थ के जिस रूप की अभिव्यक्ति से अपने को प्रतिबद्ध किया ।

---

1. मधुकर सिंह, हरिजन सेवक, पृ. 15.
2. मिथिलेश्वर, बीच रास्ते में, पृ. 23.

कहानी की भाषा भी उसी मार्ग की अनुगामिनी बनी ।[1] हिमांशु जोशी की कहानी "समुद्र और सूर्य के बीच" से उद्धृत एक प्रसंग इस प्रकार है - "राजस्थान और बीहार के अकाल में कुल कितने लोग भूख से मरे थे ? कितने बीमार बच्चों की मृत्यु सिर्फ इसलिए हुई कि उनकी इलाज की व्यवस्था न हो सकी । दवा न थी, दवा खरीदने के लिए पैसे न थे .....[2] जिस प्रकार कहानी आज के जीवन के पास है उसी प्रकार कहानी की भाषा भी जीवन के पास ही अपना साहित्यिक सरोकार स्थापित कर सकी है । भाषा को विशिष्ट प्रकार को रचना रीति और अर्थ क्षमता [illegible] । कहानीकारों ने प्रचलित शब्दों को एक नया अर्थ प्रदान कर समूची भाषा को एक नयी अर्थवत्ता प्रदान की । डा.पुष्पपाल सिंह के विचार में - हिन्दी कहानी ने बीसवीं शती के उत्तरार्द्ध के तीन दशकों में गद्य की शक्ति का चरम अथवा अपूर्व विकास किया है । यह समस्त भाषिक प्रयोगों की गौरवपूर्ण उपलब्धि है ।[3]

साठोत्तरी कहानी की भाषा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें सरलीकरण का सहज और विशेष सौंदर्य उपलब्ध है । भाषा के सहज व सरल प्रयोग से शब्दों को नयी अर्थवत्ता प्रदान कर एक अभिनव अर्थ विस्तार प्रदान किया है । इसके परिणाम स्वरूप भाषा में बोलचाल की भाषा बहुतायत से प्रयोग हुआ । वस्तुतः कहानीकारों ने बोलचाल की

---

1. डा.पुष्पपाल सिंह , समकालीन कहानी : सोच और समझ, पृ. 104.
2. हिमांशु जोशी, तपस्या और अन्य कहानियाँ, पृ. 34.
3. डा.पुष्पपाल सिंह, समकालीन कहानी : सोच और समझ, पृ. 104.

भाषा को कहानी का संस्कार प्रदान किया है । मिथिलेश्वर की कहानी "एक और हत्या " में -"पागल कुत्ता था मालिक...... तो क्या हो गया । तुम लोगों को थोडे ही कुछ होता है । भगवान भी तुम्हीं लोगों पर खुश रहते हैं । इनार झांक लेना, जगेसर । सात इनार झांक लेने पर कुत्ते का विष उतर जाता है ।[1] उनकी ही कहानी "पत्थर की लकीरें" में -"साले सखीचंद जिस तरह तुम ने पुलिया को बेइज्जत किया है, उसी तरह तुम्हें अपने घर में इसे रखना होगा.....".[2] हिमांशु जोशी की कहानी "तरपन" में से "हे गंगा भाई, तु ही देखना । तु ही विचार करना । ओ अनंत...... ओ अंतर जामी..... तु ही .... तु ही ई ई....[3] भाषा का गठन §स्ट्रक्चर§ बिलकुल ताज़ा तथा अभिव्यक्ति क्षमता को अपूर्व विकास देता है जो शब्दों के शब्दकोशी रूप और पारंपरिक भाषा शैली को बहुत पीछे छोड देता है ।[4]

साठोत्तरी प्रगतिवादी कहानीकारों ने कहानी की भाषा को भावुकता और रोमानीयत के संस्कार से मुक्त करने का प्रयास किया । भावुकता और रोमानीयत से मुक्त इस भाषा में उपमान बिम्ब और चयन की एक नवीनता तथा गहराई दृष्टिगत होती है जो भाषा के आधुनिक बोध का स्वरूप रूपायित करने में सहायक हुई । जीवन की विषमताओं से निष्प्रभ ऐसे बिंब और उपमान है जो आधुनिक मनुष्य की संवेदनाओं से परिचित कराते हैं । भाषा अपनी पारंपरिक अभिव्यक्ति को तोडकर एक सर्वथा नई

---

1. मिथिलेश्वर, एक और हत्या, पृ. 61.
2. मिथिलेश्वर, पत्थर की लकीरें, पृ. 86.
3. हिमांशु जोशी, तरपन, पृ. 58.
4. पुष्पपाल सिंह, समकालीन कहानी : सोच और समझ, पृ. 108.

अभिव्यक्ति तराशने में सक्षम हो सकी है । इन कहानीकारों ने व्याकरणगत नियमों की उपेक्षा से भाषा की अनगठता में भी एक सौंदर्य सृजित करने का प्रयास किया । हिन्दी की यह नयी कहानी भाषा, क्षमता से अत्यन्त आकर्षक बन गयी । उसकी संप्रेषण क्षमता अब बहुत बढ गयी है ।[1] मिथिलेश्वर की कहानी "एक और हत्या" में मालिक नौकर से कहता है - साले तुम्हें पच्चीस रुपये महीना लत्ता कपडा और खाना क्या इसलिए देता हूँ ? यह तुम्हारी आज की आदत नहीं, बल्कि रोज़ की है । एक तो तुम लेट बाज़ार जाते हो, दूसरे आते भी दो लेट ।

मिथिलेश्वर की कहानी एक और हत्या में - "हमें चुतिया बनाते रहे हो ।.... गुर्रा-गुर्राकर ताक रहे हो । बहन..... साले मारते-मारते पीठ की चमडी उधेड लूँगा । भुन-भुना रहे हो हरामी, तुम्हारी लडकी....."[2]

मधुकर सिंह की कहानी "आसाढ का पहला दिन" का अंश है -"किसान सभा के सिहूलीराम ने ऐलानिया के तौर पर कह दिया, भाई रे, अब तो चाहे जेहल में सडना पडे, चाहे बन्दूक की चोट पर मरना पडे, इस साल आसाढ में खेत पर हल चढेगा । बरदास करने की भी कोई सीमा होती है ।"[3]

---

1. डा. पुष्पपाल सिंह, समकालीन कहानी : सोच और समझ, पृ. 110, 111, 112, 113, 114.
2. मिथिलेश्वर, माटी की महक, पृ. 17.
3. मधुकर सिंह, आसाढ का पहला दिन, पृ. 9.

शब्द

मिथिलेश्वर की कहानी "पत्थर की लकीरें" में -
"अब हम यहाँ से लौटेंगे । यह तय है कि हम में से कोई एक दूसरे से कुछ नहीं बोलेगा । हमारी बैठकें भी अब निरंतर उदास व भयभीत ही होंगी, क्योंकि हमारे पास विचार और योजनाएँ तो बहुत है, उन्हें कार्यरूप में परिणत करने की शक्ति और उत्साह नहीं है । और हमारी यह कमी अब तक दूर नहीं होगी, जब तक हमारे बीच का कोई आदमी बाबा हरदयाल नहीं बन जायेगा ।"[1]

साठोत्तरी कहानीकार शब्दों के प्रयोग में बहुत सतर्क है । उन्होंने शब्दों के गठन में विशेष ध्यान दिया । साधारण लोगों के बोलचाल की भाषा से शब्दों को आत्मसात् करके बहुत सूक्ष्मता से उनका प्रयोग किया । छोटे-छोटे शब्दों को इस तरह प्रस्तुत किया कि उनसे गहरा अर्थ निकल सके । उन्होंने भाषा को सरल बनाया, लेकिन इससे कहानी के प्रभाव में कोई कमी महसूस नहीं हुई । "उपेन्द्रनाथ अश्क" ने सूचित किया है कि सातवें दशक में कहानी सरल और संक्षिप्त हो गयी है - यह और बात है कि जहाँ ऐसा नहीं हुआ, वहाँ भी दृष्टि बदल गयी है ।"[2] छोटे-छोटे शब्दों के विचित्र प्रयोग से कहानीकारों ने एक खास तरह के शिल्प का निर्माण किया है । उन्होंने शब्दों को पुस्तकीय व साहित्यिक नहीं बनाया । बल्कि जीवन के विभिन्न संदर्भों से जुड़े शब्दों को उसी रूप में स्वीकार किया और प्रस्तुत भी किया । उन्होंने कहानी के योग्य शब्द नहीं बनाये बल्कि शब्दों के ज़रिये

---

1. मिथिलेश्वर, माटी की महक, पृ. 91.
2. संपादक शरद देवड़ा, अणिमा, सातवें दशक का हिन्दी कहानी - विशेषांक, दिसंबर, 1966, पृ. 15.

कहानी बनायी । लेखकों ने उर्दू के शब्दों का भी जानबूझकर प्रयोग किया । पात्र जिस प्रकार उच्चारण करता है उसी को स्वीकार किया गया जिससे कहानी स्वाभाविक एवं सहज हो गई । संवेदना का संप्रेषण साध्य हुआ । निहायत, शरीफ़, तशरीफ़, यकीन, ताज़े-ताज़े, नफ़रत, नज़रिया, कमज़ोर आदि उर्दू शब्दों की भरमार कहानी में है और ये तो सामान्य जनता बोलचाल की भाषा में नित्य प्रयुक्त भी है । अंग्रेज़ी शब्दों का भी प्रयोग हुआ है । वह तो कहानी में प्रसंगानुरूप संवेदना के संप्रेषण के लिए ही हुआ है । जैसे - चेयरमैन, रजिस्टरी, एडवांस, काउंटर, बास्टार्ड, लेट आदि । इनके अलावा अन्य भाषा के जो शब्द हिन्दी में आये हैं उनका भी प्रयोग हुआ है । शब्दों के चयन में कहानीकारों ने स्तरीयता जैसी बात तो नहीं ।

शब्दों के बोलचाल के रूप भी सहज ही प्रयुक्त हुआ है । एक उदाहरण देखिए -" द्वार के लिए "दुआर," क्रांति के लिए "करान्ती", व्रत के लिए "विरत" । इस प्रकार साठोत्तरी कहानी में शब्द प्रयोग में खास व्यवस्था का पालन नहीं किया गया बल्कि शब्दों के स्वतंत्र प्रयोग से परंपरागत शब्द-व्यवस्था को तोडा गया । इन कहानियों में कहानी शब्द का वहन नहीं करती है, शब्द ही कहानी का वहन करता है । इससे सदियों से दमित व पीडित जनता के भावों को आवाज़ मिली । कच्ची मिट्टी से उद्भूत मानवीय भाव मुखर हो गये । गरीब व गंवार लोगों के जीवन के बीच से अनछुए शब्दों को संवेदनाओं का संस्पर्श मिला और साहित्य की गन्ध मिली । यह प्रवृत्ति भाषागत छुआछूत के प्रति विद्रोह थी ।

जनवादी कहानी ने सर्वहारा के जीवन में प्रयुक्त सारे के सारे शब्दों का प्रयोग किया । इन शब्दों को सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों के वहन की शक्ति मिली है और इन्होंने निषेधों भावों को मुखर भी कर दिया । इस प्रकार सर्वहारा की भाषा अपने पैरों पर खडी होने लगी, भाषा को अपनी सही अस्मिता की पहचान हुई । इस प्रकार वास्तव में भाषा की ही मुक्ति हो पायी । मसलन सुभाष पंत की कहानी "क्रांति का जन्म" की भाषा द्रष्टव्य है -
वह गहरे सन्नाटे भरी सडक पर आकर लडखडाया और ज़ोर से चिल्लाया -
"मेरे कन्धों पर देश का सारे भार टिका हुआ है ।"

शिल्पगत अन्य विशेषताएँ

साठोत्तरी कहानीकारों ने यथार्थवादी शिल्प पर अधिक ध्यान दिया । पूर्ववर्ती कहानियों में जिस तरह कथावस्तु, चरित्र, संवाद, देशकाल या वातावरण, भाषा, शैली, उद्देश्य आदि कथा-तत्वों के आधार पर मूल्यांकन होता था । वैसे आज की कहानियों में तात्विक विवेचन संभव नहीं है । आज की कहानियों ने पुरानी शिल्प-संबंधी रूढियों को तोडा है । इसके संबंध में डा. नामवर सिंह का कथन उल्लेखनीय है - कहानी में जो चीज़ पहले कथानक नाम से जानी जाती थी, उसमें कहीं-कहीं मौलिक परिवर्तन हुआ है । इसे यों भी कह सकते है कि कथानक की धारणा {कन्सेप्ट} बदल गयी है । किसी समय मनोरंजक नाटकीय और कुतूहलपूर्ण घटना-संघटन को ही कथानक समझा जाता था । और आज घटना इतनी विघटित हो

गयी है कि लोगों को अधिकांश कहानियों में "कथानक" नाम की चीज़ मिलती थी । इसी को कुछ लोग "कथानक का ह्रास" कहते हैं । परन्तु वास्तविकता यह है कि इस "कथानक" का नहीं बल्कि "कथा" का हुआ और जीवन का एक लघुप्रसंग, प्रसंगखण्ड, मूड, विचार अथवा विशिष्ट व्यक्ति-चरित्र ही कथानक बन गया है, अथवा उसमें कथानक की क्षमता मान ली गयी है ।[1] कहानी मात्र मनोरंजन का साधन नहीं है । आज कहानी मनुष्य के सोच की वस्तु है । आज की कहानी के शिल्प उपमा, रूपक, प्रतीक, संकेत आदि के प्रयोग से नवीन हो गया है । इससे शिल्प में विविधता भी आयी है । कहानी घटना और चरित्र की सीमा से आगे बढ़कर सोच की चीज़ बनी है । इसके संबंध में प्रसिद्ध साहित्यकार हरिशंकर परसाई का कथन स्मरणीय है - जहाँ तक कहानी के शिल्प और तंत्र का प्रश्न है, यह सामान्यतः स्वीकार किया जाता है कि हम आगे बढ़े हैं । नये जीवन की विविधताओं, मार्मिक प्रसंगों व सूक्ष्मतम समस्याओं के चित्रण के लिए शिल्प ने विविध रूप अपनाये हैं । इससे पहले कहानी का एक पूर्व निर्धारित चौखटा था, छन्द शास्त्र की तरह उसके भी पैटर्न तय थे । जैसे नवीन अभिव्यक्ति के आवेग से कविता में परंपरागत छन्द-बन्धन टूटे, वैसे ही नये जीवन प्रसंगों व नये यथार्थ की अभिव्यक्ति के लिए पुराने चौखट को तोड दिया । आज जीवन का कोई भी खण्ड, मार्मिक क्षण, अर्थपूर्ण कोई भी घटना या प्रसंग कहानी बन सकता है । जीवन के किसी एक अंक को अंकित करनेवाली हर गद्य रचना जिसमें कथा का तत्व हो, आज कहानी कहलाती है । रेखाचित्र, रिपोर्ताज, डायरी, पत्र-कथा, संस्मरण, मनःस्थिति चित्रण, इन्टर्व्यू, आदि गद्य के विविध रूप कहानी की परिधि में आ जाते हैं ।[2]

---

1. डा. नामवर सिंह, कहानी : नयी कहानी, द्वि. संस्करण, पृ. 18-19.
2. डा. देवीशंकर अवस्थी (संपादक) नयी कहानी संदर्भ और प्रकृति, पृ. 56-57.

कहानीकारों ने नये उपमानों के प्रयोग में भी दक्षता हासिल की है। जटिल भावों के अनुरूप ही उपमानों की प्रस्तुति हुई है। सुभाष पंत की कहानी "सीने में उभरता "दैत्याकार दरवाज़ा" में प्रयुक्त उपमान देखिए - वे आँखें बर्फ की तरह ठण्डी होने के बाद भी तपी हुई लोहे की छड का आभास दे रही थी।"[1]

इस दशक के कहानीकारों ने कहानी की घटनाओं में विशेष प्रभाव उत्पन्न करने के लिए विवरण शैली अपनाई है। डा. नरेन्द्र मोहन का यह कथन उद्धृत करना लाजिमी है - समकालीन कहानी का रचना-विधान ब्यौरों के बिना संभव नहीं है। कथात्मक ब्यौरों की खासियत यही है कि उनसे कहानी का माहौल बने और चरित्र और स्थितियाँ मूर्त होती चलें।[2] उदाहरण के लिए मधुकर सिंह की कहानी -लहू पुकारे आदमी" और इसराइल की कहानी "फर्क" उल्लेखनीय है। फर्क कहानी के भूदानी नेता बेनी बाबू इशापुर गाँव में आये परिवर्तन के संबंध में सूचनाएँ दे रहे हैं - अब उस गाँव में उन तत्वों का आगमन प्रारंभ हुआ है जो उपद्रवी है, जो हिंसा में विश्वास करते हैं। इशापुर गाँव में अब प्रभातफेरी नहीं होती, शाम को लाल झण्डा लेकर जुलूस निकलता है। जो नारियाँ एक दिन भी प्रभातफेरी में नहीं आयीं, रामधुन नहीं गाया, वे जुलूस में जा रही हैं, इन्किलाब गा रही है। धर्मचर्चा के बदले क्लास होता है। बजरन अहीर, जो भैंस चराता था और समझता था कि डेढ गज चौडी भैंस की पीठ ही पृथ्वी की चौडाई है। जिसकी दुनिया सिमट कर भैंस की पीठ पर चली गयी थी, वह अब नेता बन गया है,

---

1. सुभाष पंत, सीने में उभरता दैत्याकार दरवाज़ा, पृ. 66.
2. डा. नरेन्द्र मोहन, आधुनिकता के संदर्भ में हिन्दी कहानी, पृ. 79.

भाषण देता है । उस दिन वह कन्धे पर काठी लिये सडक पर मिल गया । मैं ने कहा - बंजरू यह लाठी लेकर घूमना अच्छी बात नहीं है । वह कहने लगा कि बेनी बाबू, मैं तो बचपन से ही लाठी लेकर घूमता हूँ । मैं ने उसे समझाया कि तुम भैंस को मारने के लिए यह लाठी रखते थे, अब आदमी को मारने के लिए यह लाठी लेकर घूम रहे हो । बजरन बहुत कर्क आ गया है - बहुत । अगर इतनी समझदारी आ गयी है कि तुम भैंस की पीठ से ज़मीन पर उतर आये हो तो कुछ और सोचो । लेकिन वह नहीं माना । कहने लगा, जितना सोचूँगा, लाठी उतनी ही मोटी होती जायेगी, बेनी बाबू । अब मैं ने भैंसों की संगत छोडकर आदमियों की संगत पकड ली है ।[1]

बेनी बाबू चूँकि इशापुर गाँव में आ रहे परिवर्तन का विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं, इसलिए इन सपाट विवरणों में व्यंग्य की वक्रता आ गयी है ।

कहानीकारों ने पूर्व दीप्ति शैली को भी सक्षम प्रयोग किया । यह इतना सटीक है कि कहानी में अनिवार्य लगता है । लगता है, पूर्व दीप्ति का उपयोग किये बिना यह कहानी लिखी ही नहीं जा सकती थी । सुभाष पंत की कहानी "श्रीमानजी" में पूर्वदीप्ति शैली का प्रयोग किया गया है । कहानी का मृत आदमी जिसकी हत्या ठेकेदार के गुण्डों ने की कहना है - "मैं मज़दूर हूँ या कह लीजिए कि मेरा बाप भी मज़दूर था।........[2]

---

1. इसराइल, फर्क, पृ. 115.
2. सुभाष पंत, तपती हुई ज़मीन, पृ. 121.

"लहू पुकारे आदमी" में भी इस शैली का प्रयोग किया है । कहानी में मास्टर जी को जेल के सामने देखते वाचक याद करता है । हिमांशु जोशी की कहानी जलते हुए डैने में भी इस शैली का प्रयोग किया गया है जिससे कहानी के कथ्य की प्रस्तुति अनायास हुई है । "आज भी बाबा भीखनचन्द उस दिन का आँखों देखा हाल सुनाते हैं तो रोंगटे खडे हो जाते हैं । "सैमुवल रामदास की लहूलुहान देह ज़मीन पर कुचले हुए केंचुए की तरह छटपटा रही थी । उनकी कांपती हुई मुट्ठियों में झंडा जकडा हुआ था । होंठ कांप रहे थे । फुसफुसाहट की-सी कांपती आवाज़ में आ रही थी -"इन-क्लाब""[1]

इन दशकों के कहानिकारों ने कहानी में रोचकता लाने के लिए संवाद शैली का प्रयोग भी किया । ताकि कहानी में नाटकीयता ला सकें। संवाद अपने आप में रोचक होते ही है, साथ ही साथ व्यंजक भी होते हैं । संजीव की कहानी "अपराध" में देखिए - "मेरी फाँसी तक नहीं रुकोगे ? व्यवस्था की नीठिका पर टके मेरे बजूद के सवालिये निशान से कतराने लगा है तुम्हारा शोध ।"

"रानी को पूछ रहे थे उस दिन ?"

"हाँ ।" मेरी सारी चेतना सिमट आई उसके सवाल पर ।

"शी हेड बिन ब्रूटली बुचर्ड लांग एगो"

"कैसे ?" मैं चीख पडा ।

"उसके गुप्तांग में रूल घुसाकर - मथकर मारा गया ।"

"ओह । ओह ।।"........... मेडिकल कालेज का मेधावी छात्रा,

---

1. हिमांशु जोशी, तपस्या और अन्य कहानियाँ, पृ. 26.

जेनेटिक्स पर रिसर्च करने का दम भरनेवाली रानी एक सामान्य पुलीस के हाथों .... क्राइम ।[1]

क्राइम पर रिसर्च करनेवाला कथावाचक के शोध प्रबन्ध को यह "क्राइम" नाटकीय मोड देता है ।

कहानीकारों ने सिर्फ अलंकारों के लिए अलंकारों का प्रयोग नहीं किया है । कहानी में उपमानों, बिम्बों इत्यादि के प्रयोग में सारा परिवेश बिंध जाता है । किसी एक उपमान को पूरी कहानी के संदर्भ से काटकर नहीं रख सकते । सुभाष पंत की कहानी "सीने में उभरता दैत्याकार दरवाज़ा" में देखिए -"वे आँखें बर्फ की तरह ठण्डी होने के बाद भी तपी हुई लोहे की छड का आभास दे रही थी ।"[2] इसमें भूख मिटाने के लिए वेश्या-वृत्ति स्वीकारने वाली प्रेयसी की आँख का वर्णन है । एक ओर बेबसी और दूसरी ओर व्यवस्था के खिलाफ आक्रोश, इस उपमा द्वारा अभिव्यक्त है । इस कहानी में ही "कोहरा" प्रतीक के रूप में आया है । "दोनों (प्रेमी और प्रेमिका) सडक पर चल रहे थे । कोहरा अधिक घना होता जा रहा था ।" दोनों के जीवन में और वातावरण में कोहरा घना है । कहानी से अलग करने पर "कोहरा" का कोई प्रभाव ही नहीं रह जाता है ।[3]

---

1. संजीव, समकालीन हिन्दी कहानियाँ, पृ. 33-34.
2. सुभाष पंत, तपती हुई ज़मीन, पृ. 66.
3. वही, पृ. 65.

कहानीकारों ने यथार्थ को प्रस्तुत करने के लिए "आँखों देखा हाल" की शैली अपनाई है । सतीश जमाली की कहानी "पुल" इसका ज्वलंत उदाहरण है -"पता नहीं वे कौन थे । मज़दूर या भिखमंगे या कोई और । छोटा-सा चबूतरा था और इतने सारे लोग वहाँ आपस में जुडे हुए पडे थे और शायद गहरी नींद में सो रहे थे । किसी की पीठ किसी के पेट के साथ मिली हुई थी और किसी का पेट किसी के सर के साथ जुडा हुआ था । लगभग सभी की टाँगें और बाहें एक दूसरे की टाँगों और बाहों में घुसी हुई थी और सब गडमड अवस्था में बेखबर सो रहे थे ।"[1]

प्रगतिवादी कहानीकारों ने आत्मकथ्य शैली को अपनाया है । यथार्थ को सही रूप में प्रस्तुत करने में यह शैली वाकई सहायक है । सतीश जमाली की कहानी "प्रथम पुरुष", सत्ताधारी, अर्थ तंत्र, सुभाष पंत की कहानी "श्रीमानजी", "पटाक्षेप", "तपती हुई ज़मीन" आदि इसके लिए ताज़ा उदाहरण हैं । सुभाष पंत की कहानी "श्रीमानजी" की पंक्तियाँ देखिए - "मैं मज़दूर हूँ या कह लीजिए कि मेरा बाप भी मज़दूर है । इस वक्त मुझे मालूम नहीं, वह ज़िन्दा है या मर गया ।"[2]

कहानीकारों ने स्वप्न शैली का प्रयोग भी किया है । "हिमांशु जोशी" की कहानी "समुद्र और सूर्य के बीच" कहानी में कहानी का पात्र स्वप्न देखता है । स्वप्न में उसे अपने अपराधों के लिए सजा मिलती है ।

---

1. सतीश जमाली, प्रथम पुरुष, पृ. 14.
2. सुभाष पंत, तपती हुई ज़मीन, पृ. 121.

कहानीकार ने इस शैली के ज़रिये यह कहनक का प्रयास किया है कि दरअसल हमारे राजनीतिज्ञों को ऐसी सज़ा मिलनी चाहिए जो नेताओं को मिलती है । सज़ा इस प्रकार है - अदालत पूरी जांच-पड़ताल के पश्चात् इस निर्णय पर पहुँची है कि अपने चालीस साल के सक्रिय राजनीतिक जीवन में, जनसेवा के नाम पर तुमने सवा तीन करोड़ रुपये एकत्रित किए हैं । भ्रष्टाचार फैलाने में तुम्हारी दुहरी नीतियाँ फलप्रद रही हैं । अपने निहित तुच्छ स्वार्थों की पूर्ति के लिए तुमने जातीयता एवं प्रांतीयता को इस कदर बढ़ावा दिया कि देश पुनः विभाजन की स्थिति तक आ पहुँचा है । देश को गृह-युद्ध की-सी इस भयावह अराजक स्थिति में ला खड़ा करने का दायित्व तुमपर है...... न्यायाधीश अपना निर्णय उसी गति से पढ़ता जा रहा - अदालत इस नतीजे पर पहुँची कि तुम्हें जितनी भी सजाएँ दी जाए, कम हैं - फिर भी तुम्हारे चेहरे पर कालिख लगाकर तुम्हें देश के कोने-कोने में भेजा जाये, ताकि देशवासी {जिनके विश्वास की तुमने हत्या की है}, तुम्हें देखकर तुम पर हंस सके । लोगों की इतनी भर्त्सना और उपहास के पश्चात् भी तुम मर न सके, ज़िन्दा रहे..... तुम्हें चाँदनी चौंक के भरे बाज़ार में सरे आम फांसी की सजा दी जाये और ...... निर्णय पूरा सुनने से पहले ही वह न्यायालय के फर्श पर अचेत होकर गिर पड़ता है ।

इसमें स्वप्न शैली के ज़रिये कहानीकार ने यही सूचित किया है कि सजा स्वप्न में ही दी जा सकती है अन्यथा संभव नहीं ।

इस दौर में मिथिलेश्वर, मधुकर सिंह की कहानियों में अनायास एक ऐसे नये शिल्प का उभार हुआ है जो उन्हें समस्त आंचलिक कहानीकारों से पृथक कर देता है । इस नूतन शिल्प को अनौपचारिक शिल्प की संज्ञा देना संगत लगता है । आज के बदलते ग्राम-जीवन के यथार्थ को उजागर करने में इस शिल्प के कारण कथाकारों को अभूतपूर्व सफलता मिली है । ऐसा लगता है कि इन कहानीकारों की सृजन-प्रक्रिया में आधुनिक कहानी के शिल्पगत नारे, फार्मूले, तेवर और तकनीकी विकास आदि से अप्रभावित गाँव का शोषित-पीड़ित भोलेपन सीधे-सीधे कहानियों में उतर आते हैं । इसलिए ये परंपरागत कथा शैली को होकर भी आधुनिक पाठकों को बेहद आकर्षित करती हैं । ग्रामीण-माहौल की कथाएँ दूर की संश्लिष्ट स्थितियों की गाँठें खोल देती हैं । सहज माध्यमों से असहज की अभिव्यक्ति इतने मार्मिक और प्रभावशाली ढंग से पहली बार लक्षित हुई है । कहानियों में दार्शनिक नारेबाजी नहीं । हुल्लड़ और हड़प नहीं, पटाखे नहीं, वे अचूक प्रहारात्मक विस्फोट हैं । कथा साहित्य की एकरसता टूटी है । लेकिन अत्यंत भोलेपन के साथ सबकुछ बिना तराशे कहे गए हैं । उसका अनगढ़पन बहुत ही दिलचस्प एवं आकर्षक हैं ।

कहानी ने जीवन की संक्रांत स्थितियों को बड़ी सूक्ष्म निगाह से पहचान ली है और इस रचना-विस्तार को कलात्मक साँचे में ढाला भी है । आधुनिक ज़िन्दगी में सामाजिक संस्थाओं और मानवीय संबंधों में उलझे प्रश्न बरकरार है । किसी भी "व्यवस्था" के प्रति आधुनिक व्यक्ति आस्थावान् नहीं है । वह अपनी "पहचान" की तलाश में हैं । उसकी

अनवरत खोज जारी है । व्यक्ति के इस जटिल खोज की प्रक्रिया को कहानीकार रचना में घटित कराना चाहते है । इसकी न कोई सीमा है, न पंथ, न रास्ता, न दिशा...... यहाँ न कुछ श्लील है न अश्लील । न कोई ग्राह्य है न अग्राह्य । न अच्छा न बुरा । न शिव न अशिव । न कुत्सित, न सुन्दर यहाँ जो कुछ है वह मनुष्य ही है और मनुष्य के आदिम या असल रूप की खोज । ये ही कहानी की मूल संवेदना एवं स्वर है ।[1]

कहानी, पुराने कहानी के प्रतिमानों को नकार रही है, और नये फार्म की तलाश में है । यह तलाश अब भी जारी है । इसलिए आज की कहानी पढ़कर उसका विश्लेषण करना कठिन होता है । क्योंकि इसमें कहीं भी पुरानी कहानी का "कहानी तत्व" दिखाई नहीं देता है । लगता है इसमें अनुभव का घनीभूत स्फुरण है जो कथात्मकता से परे है । यह आत्मबोध की अभिव्यक्ति है । लेकिन आत्मबोध वैयक्तिक नहीं बल्कि समकालीन जीवन की विसंगतियों व विद्रूपताओं की क्षोभ से निर्मित आत्मबोध है । इससे कहानी में समय-बोध का स्पष्ट स्वर मिलता है ।

कहानीकार यथार्थ के रू-ब-रू खड़े है । जीवन-तथ्यों को उनके नंगे रूप में देखते हैं और उसी रूप में दिखाते हैं । देखने और दिखाने की क्रिया एक साथ घटित होती है । इसलिए कहानीकारों के लिए वह समय

---

1. डा. भगवानदास वर्मा, कहानी की संवेदनशीलता सिद्धांत और प्रयोग, पृ. 258.

भी नहीं रहता जहाँ वे अपने अनुभवों को चिन्तन की प्रक्रिया से गुज़रने दें और उन्हें कलात्मक स्तर पर प्राप्त करने दें । इन कहानियों में, लगता है, सारी एस्थेटिक यानी सेन्सीबिलिटी" तहस-नहस हो गई है । इन कहानीकारों के लिए यथार्थ का कोई सैद्धांतिक रूप स्वीकार्य नहीं है । इनके लिए यथार्थ एक सिद्धांत या दर्शन नहीं, अनुभव, संज्ञा और अप्रोच है जो पूरी भाषा, बुनावट और अभिव्यक्ति में उजागर होता है । कथ्य की आंतरिकता अभिव्यक्ति में जाहिर होती है ।

इस प्रकार इस दौर की कहानी सही आदमी की तलाश में सही ज़मीन तोड रही है, तोडते हुए तोडने की प्रक्रिया को व्यक्त कर रही है । अपनी रचनात्मकता की खोज में है - खोज जारी है । कहानी की पुरानी कथात्मकता को तोड रही है और नई "कहानी" की तलाश में है ।[1] आशा है समकालीन कहानी अपना सही मुहावरा खोज लेगी और कहानी न लगते हुए भी "कहानी" लगेगी ।

अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता

साठोत्तरी कहानीकार अभिव्यक्ति के संदर्भ में परंपरागत मान्यताओं को स्वीकार करते नहीं । वे अभिव्यक्ति के निर्धारित शैली को नकारने के लिए उद्यत हो गए । वे कहानी में चमत्कारिकता लाने के बजाय

---

1. डा. भगवानदास वर्मा, कहानी की संवेदनशीलता : सिद्धांत और प्रयोग, पृ. 249.

यथार्थ से जूझते उस मनुष्य के चित्र व्यक्त करना चाहते थे जो कि समसामयिक जीवन परिस्थितियों में जीने के लिए छटपटाता है । उनके पास जो वस्तु है वह जीजिविषा से तडपते सर्वहारा का जीवन है । सर्वहारा के जीवन को प्रस्तुत करने के लिए कलात्मकता की खोज करना निरर्थक है । क्योंकि उसके जीवन की प्रस्तुति में कलात्मकता का समावेश हो जाय तो यथार्थ की सही पहचान से कहानी अलग हो जायेगी । दरअसल कथ्य को प्रस्तुति ही कला है जो किसी माध्यम के द्वारा होता है ।

साठोत्तरी कहानीकार के पास पात्र राजाशी पोशाक पहनी राजकुमारी या राजकुमार नहीं है ; स्वर्ग से उतरनेवाली परियाँ नहीं है या कोई देवी-देवता भी नहीं । वैयक्तिक संत्रास, कुंठा और तनाव कहानी के कथ्य नहीं है । उनके सामने मिट्टी के पुत्र हैं, उनका शोषण करनेवाले बडे-बडे पूँजीपति, सामंत और ज़मीन्दार है और उनसे संचालित सामाजिक-राजनैतिक व्यवस्था है और व्यवस्था के अंतर्विरोध है । इस यथार्थ से आँखें मूँदकर कोई भी प्रतिबद्ध रचनाकार रह नहीं सकता । यहाँ रचनाकार समसामयिक समस्या से अवगत है उसके चित्रण करने के लिए प्रतिबद्ध है । इसलिए इस दौर की कहानियों का प्रमुख स्वर प्रतिबद्धता से लैस है । अभिव्यक्ति या प्रस्तुति में उन्हें प्रतिबद्ध होना है । प्रतिबद्धता के संदर्भ में ही स्वतंत्रता की बात भी आती है । वे स्वतंत्र अभिव्यक्ति या प्रस्तुति को अपना दायित्व मानते हैं । कथ्य की अभिव्यक्ति या प्रस्तुति के लिए उनके सामने कला की कोई समस्या नहीं । वे जो सत्य अभिव्यक्त करते हैं वही कला है । याने कह सकते हैं कि उनकी

किसी भी प्रकार की अभिव्यक्ति ही कला है ।

कहानीकार और पात्र एक ही भाषा बोलते हैं जो उनके रोज़ की ज़िन्दगी में बोली जाती है । कहानीकार उस घटना को प्रस्तुत करते हैं जो उसके नित्य जीवन में देखा जाता है । याने साठोत्तरी प्रगतिवादी कहानीकार कृत्रिमता की चमत्कारिता से अछूत रहकर अभिव्यक्ति करते हैं । हिमांशु जोशी की कहानी "जलते हुए डैने" में शिवदा बोलता है -"यह देखो, अब भी कह सकते हो कि ये भूखे नहीं मरे हैं ?"[1] मधुकर सिंह की कहानी "हरिजन सेवक" में मा साहब कहता है -"महात्मा जी अब आफिस में लटकाने और भाषणों में दुहराने की चीज़ रह गये हैं ।"[2] मिथिलेश्वर की कहानी "मेधना का निर्णय" में - उनके सामने एकमात्र रास्ता है - अपने हक के लिए बाबुओं से टकराना । उनसे टकराने के बाद बाबु लोग भी आराम से नहीं रहेंगे । उनका चैन-सुख भी खत्म हो जायेगा । फिर वे शहर के मालिकों से मिलकर उन्हें दबाने से भय भी तो खायेंगे । अतः साठोत्तरी कहानी में कोई खास शिल्प को रेखांकित करके दिखाना प्रगतिवादी कहानी के संदर्भ में ठीक नहीं है । कहा जा चुका है कि इनकी कहानियों में कथ्य और शिल्प दोनों अलग अलग नहीं बल्कि दोनों एक दूसरे से मिले हुए हैं । सत्य की अभिव्यक्ति ही उनकी कला है । सामाजिक प्रतिबद्धता को निभाना उनका लक्ष्य है । वे कहानी गठते नहीं बल्कि अभिव्यक्त करते हैं । उनकी अभिव्यक्ति असल में उनसे अनुभूत या

---

1. हिमांशु जोशी, तपस्या और अन्य कहानियाँ, पृ. 29.
2. मधुकर सिंह, हरिजन सेवक, पृ. 15.

संवेदित सत्य का कथन है । उनके कथन में कहानी स्वयं बनती है न कि बनायी जाती है । हिमांशु जोशी अपनी कहानी "जलते हुए डैने" में शिवदा के जीवन को पाठक के समक्ष प्रस्तुत करते हैं । मधुकर सिंह "आसाढ का पहला दिन" में किसान के जीवन को प्रस्तुत करता है । मिथिलेश्वर और सुभाष पंत दोनों अपनी कहानियों में मज़दूरों के जीवन को वाणी देते हैं । यहाँ उनकी कहानी कला सर्वहारा के प्रति प्रतिबद्धता है । इसलिए हम कह सकते हैं कि साठोत्तरी कहानी की कला प्रतिबद्धता से लैस है । जब तक एक छोटी-सी चींटी पाँव पडने पर अपनी शक्ति भर काटने से नहीं बाज आती, तब हम फिर मनुष्य होकर क्यों चुपचाप सहेंगे ?"[1]

इस प्रकार कहानीकार और पात्र सीधे बोलते हैं । इनके सीधे बोलने से ही वस्तुस्थिति की सही पहचान अनुभूत होती है ।

इस प्रकार कह सकते हैं कि साठोत्तरी कहानी के शिल्प की सबसे बडी उपलब्धि अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और प्रतिबद्धता है ।

---

1. मिथिलेश्वर, मेधना का निर्णय, पृ. 19.

उपसंहार

उपसंहार

प्रगतिवादी साहित्य का आधारभूत वैचारिक दर्शन मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिक वाद है । शताब्दियों से अपने मौलिक अधिकारों से वंचित पीड़ित व शोषित बहुसंख्यक जनता को अपने मौलिक अधिकारों से अवगत कराने, शोषितों को अपनी सही पहचान देने और शोषण से मुक्त स्वस्थ जीवन बिताने के लिए वर्गरहित समाजवादी समाज व्यवस्था की रचना को लक्ष्य करके मार्क्स ने जो लोक हितकारी सिद्धांत का निर्माण किया । वह मार्क्सवाद नाम से जाना जाता है । इस सिद्धांत के केन्द्र में संपूर्ण मानव जाति की भलाई की भावना केन्द्रीभूत है । इस सिद्धांत ने इस शताब्दि के आरंभ में ही वर्ग-विभाजित समाज को परिवर्तित करने और शोषितों की मुक्ति के लिए शोषकों के विरुद्ध श्रमिक व मज़दूर वर्ग को एकजुट होने का आह्वान दिया था । मार्क्स के विचार में वर्गों में बँटे समाज की समस्याओं का मूल कारण पूँजीवादी व्यवस्था की विडम्बनाएँ हैं ।

इस पूँजीवादी व्यवस्था के उन्मूलन के लिए उन्होंने वर्ग संघर्ष की आवश्यकता पर ज़ोर दिया । उनके अनुसार वर्ग संघर्ष के द्वारा ही वर्गचेतना की समाप्ति हो सकती है । मार्क्स ने वर्ग संघर्ष को प्रेरित करने में साहित्य की भूमिका पर विस्तार से विचार किया है । हमने इस अध्याय में मार्क्स के साहित्य संबंधी विचारों को ही नहीं, अन्य दार्शनिकों व मार्क्सवादी साहित्यकारों के भी साहित्य संबंधी विचारों का संक्षिप्त परिचय देने का विनम्र प्रयास किया है ।

मार्क्स की दृष्टि में साहित्य एवं कला का मनुष्य के बाहरी परिवेश से, खासकर उनके सामाजिक, आर्थिक व सांस्कृतिक जीवन के साथ सख्त सरोकार रखता है । सामाजिक जीवन परिवेशों के मुताबिक साहित्य का निर्माण होता है और परिवर्तन भी इसी की वजह से होता है । मार्क्स ने साहित्य एवं कला को समाज के भौतिक धरातल से ही उद्भूत माना है ।

एंगेल्स का विचार भी मार्क्स के विचार के अनुकूल ही है । उनका कहना है कि साहित्य एवं कलात्मक विकास निश्चित रूप से आर्थिक विकास पर आधारित है । साहित्य के लक्ष्य पर चर्चा करते हुए मार्क्स ने कहा था कि साहित्य का लक्ष्य सामाजिक जीवन के विकास और परिवर्तन में योगदान देना है । साहित्य मनुष्य को अधिकाधिक मानवीय बनाता है ।

लेनिन साहित्य एवं कला को जनता के जीवन से जुड़े रहने और उनकी आशाओं, आकांक्षाओं को अभिव्यक्त करने के पक्ष में थे । इसके लिए कलाकार के स्वतंत्र होने का हिमायती भी रहे । उन्होंने साहित्य एवं कला के अंतर्गत यथार्थ जीवन के चित्रण एवं जनसामान्य के हितों को सर्वोपरि महत्व दिया ।

माओ ने साहित्य को क्रांति का एक तेज़ हथियार माना था । साहित्य केवल मनोरंजन की वस्तु नहीं है । उन्होंने साहित्य को

जीवन के परिप्रेक्ष्य में ही मान्यता दी । कलाकार के दायित्व पर चर्चा करते हुए उन्होंने कहा कि साहित्यकार को पहले मार्क्सवादी-लेनिनवादी विचारों को भली भाँति समझना चाहिए । फिर समाज के वर्गगत जीवन से परिचित होना है । तभी कलाकार अपना मार्क्सवादी-लेनिनवादी दृष्टिकोण साहित्य के द्वारा भली-भाँति व्यावहारिक बना सकते हैं । जनता की सेवा कलाकार का लक्ष्य होना चाहिए । कलाकार या साहित्यकार सर्वहारा वर्ग को पहचाने, उसके संघर्ष का अध्ययन करके सर्वहारा की शक्तियों का समर्थन दे और विरोधी शक्तियों को कमज़ोर भी बनाएँ ।

दार्शनिक लुकाच ने तो मार्क्सवाद को ऐतिहासिक संबद्धता तथा गतिशीलता के परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकन किया है । याने वे मार्क्सवाद को अतीत की विरासत के परिप्रेक्ष्य में देखते हैं । साहित्य के दायित्व पर विचार करते हुए उन्होंने कहा कि नया जीवन जिन नये प्रश्नों को लेकर सामने आ रहा हैं, उन्हें हल करने की जिम्मेदारी साहित्य को ही उठानी है ।

अन्टोनियो ग्रंशी कला और साहित्य को पूँजीवादी सामन्तवादी संस्कृति से मुक्त करने के पक्ष में थे । उनकी क्रांतिकारी विचार-धारा यह है कि इतिहास और संस्कृति का आपसी संबंध है । अतः सर्वहारा हित का साहित्य तभी संभव है जब साहित्य पूँजीवादी-सामंतवादी -संस्कृति और इतिहास से पूर्णतः मुक्त होता है । इसके लिए कलाकार को चाहिए कि वे पूँजीवादी कला का तिरस्कार करे ।

प्लेखानोव कला की उपयोगिता पर विश्वास रखते थे। उनका विचार था कि समाज कलाकार के लिए नहीं बना बल्कि कलाकार का सृजन समाज के लिए हुआ है।

क्रिस्टोफर काडवेल ने तो कविता या कला को समाज की सीपी से उत्पन्न मोती माना है। काडवेल का कथन है कि जहाँ बुर्जुआ वर्ग के लिए बाज़ार होड करने का मंच है वहाँ शोषित समाज के लिए परतंत्रता, उत्पीडन एवं शोषण का पर्याय है। उनका मत है कि बुर्जुआ कवि की कविता असंगतियों और अंतर्विरोधों से पूर्ण हैं, जिसका सीधा संबंध पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था की असंगतियों तथा अंतर्विरोधों से हैं। उनके विचार में - कला कला के लिए जैसी बात "कला मेरे लिए" का ही पर्याय है, जो विशुद्ध रूप में असामाजिक है।

भारतीय विचारकों में यशपाल "कला कला के लिए सिद्धांत को नहीं मानते थे। वे कला को जीवन का कराह-भरा उच्छ्वास मानते थे। उनके लिए कला व्यक्तिगत संतोष के लिए नहीं वरन् समष्टिगत चिंतन के लिए है। यशपाल ने कहा कि जब हम यह मानकर चलते हैं कि साहित्य की सृष्टि समाज सापेक्ष है और पाठक उससे प्रभाव ग्रहण करके ही दृष्टि ग्रहण करता है तो प्रभाव के प्रति सतर्क रहना लेखक का कर्तव्य है। (उनके विचार से समाज का पालन सम्पत्ति नहीं, श्रम करता है। श्रम ही सम्पत्ति को उत्पन्न करता है। श्रमिक वर्ग समाज से सम्पत्ति का शासन हटाकर श्रम का शासन स्थापित

करता है ।§ वे यह भी मानते हैं कि कलाकार मानव पहले हैं, इसलिए कला मानवता का स्फुरण ही है ।

मुक्तिबोध वस्तुतः समाज के प्रति सही मायने में प्रतिबद्ध साहित्यकार रहे थे । उन्होंने कला कला के लिए सिद्धांत की खिल्ली उठाई है । दर असल यह सिद्धांत सामाजिक प्रतिबद्धता से दूर होने तथा अपनी निसंगता को छिपाये रखने का उपाय है । जब समाज के दबाव को कलाकार सह नहीं पाता तब अपनी मूलभूत निस्संगता के सिद्धांत को प्रतिपादित करते हुए कहता है कि सृजन अकेले में होता है । साहित्य व्यक्ति की उपज है जो व्यक्ति के लिए है । सच बात यह है कि सृजन की एकांतिता में भी सहचरत्व होता है, संग होता है, इसके बिना सृजन संभव नहीं है ।

रांगेय राघव के विचार में साहित्य समाज सापेक्ष है । इस स्वीकृति के बावजूद भी रांगेय राघव ने यह स्पष्ट कर दिया है कि साहित्य समाज की अनुकृति मात्र नहीं है । जब तक वह समाज के यथार्थ को शब्दित करता है तो उनका उद्देश्य मानव-कल्याण होता है ।

यों इस अध्याय में मार्क्सवादी दार्शनिकों, विचारकों और साहित्यकारों के साहित्य संबंधी विचारों को संक्षिप्त रूप में समेटने का प्रयास किया गया है ।

स्वतंत्रता पूर्व भारत के परिवेश का अध्ययन करते समय देखा गया कि यहाँ वर्गचेतना और वर्ग संघर्ष की भावना कई कारणों से पैदा हुई और यही भावना प्रगतिवाद की यथार्थ दृष्टि का प्रेरक तत्व बनीं । सन् 1917 में हुई रूसी क्रांति, भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, किसान मज़दूर आन्दोलन, सविनय अवज्ञा आन्दोलन, द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद का संकट, बंगाल का अकाल, विभाजन की विभीषिकाएँ आदि देश के परिवेश पर विशेष प्रभाव डाला है । इन घटनाओं ने हमारे देश के आर्थिक, सामाजिक और नैतिक स्थिति को प्रभावित किया । इस परिवेश ने साहित्यकारों को वामपंथी विचारधारा को आत्मसात् करने के लिए प्रेरित भी किया ।

प्रगतिवादी कहानी के अध्ययन के दौरान देखा गया है कि प्रगतिवादी कहानी का उपक्रम लगभग प्रेमचन्द से शुरू होता है । आगे इसकी गति अविरल आगे बढ़ती रही । प्रेमचंद के बाद प्रगतिवादी कहानी की चार पीढ़ियाँ हुई हैं । पहली पीढ़ी में यशपाल, भीष्म साहनी, अमृतराय आदि आते हैं । दूसरी पीढ़ी में अमरकांत, शिवप्रसाद सिंह, शेखर जोशी, तीसरी पीढ़ी में काशीनाथ सिंह, सतीश जमाली, मधुकर सिंह और चौथी पीढ़ी में जनवादी कहानीकार सम्मिलित हैं । पहली पीढ़ी के कहानीकारों ने अपनी कहानियों को समाज में समता लाने के लिए एक हथियार के रूप में प्रयोग किया । समता लाने के लिए बाधक तत्वों को खत्म करने के लिए आह्वान दिया । दूसरी पीढ़ी के कहानीकारों ने समाज में फैले व्यापक अंतर्विरोधों की सशक्त अभिव्यक्ति दी । तीसरी

पीढ़ी की कहानियाँ आम आदमी की ज़िन्दगी के तमाम संकटों और इन संकटों के लिए जिम्मेदार तत्वों की खोज की । चौथी पीढ़ी के कहानीकार जनवादी कहानीकार है जिनकी दृष्टि सर्वहारा की मुक्ति के पक्ष में थी ।

कहानी के यथार्थवाद की ओर झुकाव के संबंध में अध्ययन करते हुए मालूम हुआ कि स्वतंत्रता के बाद ही साठोत्तरी कहानी यथार्थ की ओर झुकने लगी थी । उस समय कहानीकार सामाजिक समस्याओं को सामाजिक सत्य के अतल तल में उतरकर देखना चाहते थे । उन कहानीकारों की सृजन प्रक्रिया का लक्ष्य था कि समाज के शोषण शक्तियों के मुखौटे को खोलकर प्रगतिशील शक्ति को अपना समर्थन देना । यथार्थ की ओर झुकाव समकालीन कहानी, समांतर कहानी, जनवादी कहानी में भी स्पष्ट हैं । उन्होंने शोषितों की शक्ति, उनकी संघर्षशीलता और आस्था को बल देने के लिए सामाजिक विसंगतियों का पर्दाफाश किया है । उन्होंने शोषित वर्ग के सामने यथार्थ को रखा और उनसे संगठित होने और संघर्ष करने का आह्वान भी दिया ।

प्रेमचन्द और यशपाल की सर्वकालीन विशिष्टताओं पर विचार करते हुए मालूम हुआ कि प्रेमचन्द ने सबसे पहले सर्वहारा वर्ग की बदत्तर स्थिति को प्रस्तुत किया था । उन्होंने कहानी को तिलस्मी व अय्यारी दुनिया से यथार्थ की दुनिया में ले आने का साहस किया । याने

उन्होंने कहानी को यथार्थ परिवेश से जोड़ दिया । परिवेश के प्रति खुलापन की प्रवृत्ति समकालीन कहानियों में भी दिखाई पडती है । यह प्रवृत्ति प्रेमचन्द से ही कहानी को, विरासत के रूप में मिली है और आज तक यह रिश्ता बढती रहती है । महाजनी सभ्यता से पीडित प्रेमचंद के पात्र व्यवस्था को चुनौती देते हैं । उसी प्रकार समकालीन कहानियों में भी व्यवस्था को चुनौती देने की वृत्ति ज़ारी रही है ।

नयी कहानी की सीमाओं पर अध्ययन करते हुए देखा गया कि नयी कहानी की चेतना व्यक्ति के निजी अनुभवों से जुडी है । व्यक्ति की कुंठा, संत्रास आदि की अभिव्यक्ति ज़ोरों पर हुई है । नयी कहानी में यद्यपि अनुभूति की प्रामाणिकता, प्रगतिशीलता और शिल्प की परिपक्वता है, फिर भी वर्ग सापेक्ष दृष्टि के अभाव में यह वामपंथी विचारधारा के परिप्रेक्ष्य में एक सफल आन्दोलन नहीं कर सकते ।

सचेतन कहानी नयी कहानी की प्रतिक्रिया के रूप में उद्भूत हुई थी । सचेतनता एक दृष्टि है जिसमें मानव जीवन जीया जाता है और जाना भी जाता है । इसने आह्वान किया कि व्यक्ति को परिवेश व परिस्थिति के प्रति सचेत रहने लायक साहित्य की ज़रूरत है ।

स्वतंत्रता के बाद भारत की युवा पीढी के मोहभंग की

प्रतिक्रिया के रूप में अकहानी का आविर्भाव हुआ था । अकहानी का प्रमुख स्वर अस्वीकार का स्वर है । अकहानी के आन्दोलन ने कहानी के परंपरित कथानक शिल्प या साँचे और जीवन बोध से असंगति रखनेवाले मूल्यों को भी नकार दिया है । अकहानी के निषेध का स्वर धीरे-धीरे सीमा का उल्लंघन किया । मूल्य निषेध और पुरानी पीढ़ी के प्रति आक्रोश स्वस्थ मानवीय संबंध को ठुकराने लगे । धीरे-धीरे उसकी समाज के प्रति, प्रतिबद्धता नष्ट हो गयी । फलत: यह आन्दोलन जल्दी ही समाप्त हो गया ।

समांतर कहानी में आम आदमी की प्रतिष्ठा हुई है, जिनकी उपेक्षा नयी कहानी, सचेतन कहानी, अकहानी, कहानी आन्दोलनों ने की थी । इस वर्ग ने आर्थिक अभाव और जीवन के अनेकानेक समस्याओं से त्रस्त होकर जीवन बिताया था । इसकी मुक्ति समांतर कहानी का लक्ष्य था । आम आदमी के प्रति प्रतिबद्धता और सम्बद्धता इसकी खासियतें हैं ।

जनवादी कहानी समांतर कहानी की सक्रिय परिणति है । समांतर कहानी में जो वामपंथी विचारधारा की शुरूआत हुई उसको ज़्यादा तीव्र बनाने में जनवादी कहानी काबिल हुई । जनवादी कहानीकारों ने कहानी को कारगर औजार के रूप में इस्तेमाल किया । जनवादी कहानी आम आदमी को अपने अधिकारों के प्रति सजग करती है । और जहाँ संघर्ष की अनिवार्यता है वहाँ शस्त्र लेकर संघर्ष करने का ऐलान करती है । यह व्यवस्था का समूल परिवर्तन चाहती है ।

प्रगतिवादी कहानीकार समाज से प्रतिबद्ध हैं । उसकी वाणी में युग की संघर्ष, व समस्यायें ध्वनित होती हैं । मसलन मिथिलेश्वर की कहानी "मेधना का निर्णय" में शोषण के विरोध में मेधना निर्णय लेता है । मधुकर सिंह की कहानी "हरिजन सेवक" में हरिजन सेवक हरिजनों के हक से उन्हें अवगत कराता है । सुभाष पंत की कहानी लाश में वेतन के अभाव में त्रस्त स्कूल मास्टर की दुर्दशा को दिखाया गया है । कहानीकार ने मास्टर की मृत्यु को व्यवस्था के क्रूर कारनामे घोषित करते हैं । सुभाष पंत की और एक कहानी "सीने में उभरता दैत्याकार दरवाज़ा" में भूख मिटाने के लिए प्रेमिका का प्रेमी के सामने वेश्या बनने का चित्रण करते हुए इस व्यवस्था में मानव के नैतिक पतन की गहराई को दिखाया गया है । हिमांशु जोशी की कहानी "कोई एक मसीहा" भ्रष्ट राजनीतिज्ञों के कुकर्मों का पर्दाफाश करती है । इसमें सुरेश भाई और लाभू बेन दोनों मिलकर निरीह बेबस ग्रामीण लड़कियों का यौन शोषण करते हैं । "समुद्र और सूर्य के बीच" कहानी में राजनीतिज्ञों से किये गये कुकर्मों पर सजा सुनवायी जाती है । इसके ज़रिये भ्रष्ट राजनीति के विरुद्ध जनचेतना को उजागरित किया है । ज़मीन्दारों से शोषित एक गरीब आदमी की कहानी है मधुकर सिंह की कहानी "एक और हत्या" । यह कहानी स्पष्ट करती है कि हत्या व्यवस्था द्वारा भी की जाती है । हिमांशु जोशी की कहानी "जलते हुए डैने" में शिवदा की मृत्यु पुलीस के अतिचार से होता है । मधुकर सिंह की कहानी "आसाढ का पहला दिन" वर्ग संघर्ष की कहानी है । किसान आन्दोलन इसमें चित्रित है । सतीश जमाली की कहानी "युद्ध" में सशस्त्र क्रांति दिखाई गई है । उनकी ही कहानी "अर्थतंत्र" में सत्ता को पलटने के लिए प्रधान मंत्री की हत्या की जाती है । लहू पुकारे आदमी

में सामंतवाद के विरुद्ध लड़ाई दिखाई है । सतीश जमाली की कहानी में व्यवस्था में जो वर्ग-भेद है उसकी खाई दिखायी गयी है । सुभाष पंत की कहानी "एक आतंकवादी का अंत" में सत्ता के विरुद्ध जनचेतना को दिखाया है और सत्ता के दमननीति से त्रस्त आम आदमी के बेबसी को भी दर्शाया है । मधुकर सिंह की कहानी "लहू पुकारे आदमी" में छुआछूत की समस्या उठायी गयी है । नगीना नामक हरिजन युवक सामन्ती सभ्यता के विरुद्ध खड़ा हो जाता है । हिमांशु जोशी की कहानी "जलते हुए डैने", सतीश जमाली की कहानियाँ सत्ताधारी, अर्थतंत्र आदि कहानियाँ सत्ता के विरुद्ध जनचेतना को उजागरित करती है और जन संघर्ष को तेज़ करती हैं ।

यों जनवादी कहानी का आम आदमी के प्रति पूर्णतः कम्मिटड है और उनके संघर्षशील जीवन को उन्होंने हूबहू अभिव्यक्त भी किया है ।

शिल्प पक्ष पर अध्ययन करके पता चला कि प्रगतिवादी कहानीकार वस्तु और रूप को अलग अलग मानने के पक्ष में नहीं है । वे वस्तु और रूप के संयोग में ही साहित्य और कला की चरितार्थता को देखते हैं । प्रगतिवादी वामपंथी कहानी ने वस्तु तत्व को प्रमुखता दी और रूपतत्व की सापेक्षिक सक्रियता को स्वीकृति भी दी । वामपंथी का विरोध शिल्प के प्रति नहीं बल्कि रूपवाद के प्रति है ।

भाषा पर शोध करते हुए मालूम हुआ कि वामपंथी कहानीकारों की भाषा का संबंध संपूर्ण जन-जीवन से है । उनके अनुसार भाषा का सबसे जीवन्त रूप जन जीवन के बीच से मिलता है । कहानी की भाषा कहानीकार के अनुभव से आती दिखाई पड़ती है । उन्होंने भाषा को जटिल बनाने की कोशिश नहीं की, क्योंकि उनका मानना है कि जटिल भाषा में घटनाओं की संप्रेषणीयता नामुमकिन है । उन्होंने भाषा की पूर्व स्वीकृत रूप को स्वीकृत भी नहीं किया । संप्रेषणीयता की दृष्टि से उन्होंने कहानी को नयी भाषा दी ।

अभिव्यक्त करने की अपनी स्वतंत्र शैली प्रगतिवादी कहानी की शिल्प की एक खास विशेषता है । पहले अभिव्यक्ति की पूर्व नियोजित यानी बनी बनायी शैली उपलब्ध थीं । कुछ पूर्व निर्धारित तत्व विद्यमान थे । उन तरीकों और तत्वों का निषेध वामपंथी कहानीकारों के शिल्प में दिखाई पड़ता है । उन्होंने कथ्य के अनुसार अभिव्यक्ति के नये-नये धरातलों की खोज की । इन कहानीकारों ने आम भाषा में, दार्शनिक बातें नहीं कीं । बल्कि ज़िंदादिल ज़िन्दगी को पाठकों के सामने प्रस्तुत किया । इन्होंने कहानी में ज़्यादा असलियत लाना चाहते थे ।

इस प्रकार वामपंथी कहानीकार अभिव्यक्ति की पूर्व निर्धारित बोझ से मुक्त हुए । साथ ही साथ अपनी स्वतंत्र शैली के रूपायन में कामयाब भी हुए ।

संदर्भ ग्रंथ सूची

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. अकविता और कला का संदर्भ - डा. श्याम परमार

2. अन्ततः (कहानी संकलन) - हिमांशु जोशी
पूर्वोदय प्रकाशन
दिल्ली - 6.
प्र. सं. 1965.

3. आधुनिक हिन्दी कहानी साहित्य में प्रगति चेतना - लक्ष्मणदत्त गौतम
कोणार्क प्रकाशन
दिल्ली, प्र. सं. 1972.

4. आसाढ का पहला दिन (कहानी संग्रह) - मधुकर सिंह
विद्यार्थी प्रकाशन
प्र. सं. 1988.

5. आस्था और सौंदर्य - रामविलास शर्मा
राजकमल प्रकाशन प्रा. लि.
नई दिल्ली,
द्वि. सं. 1990.

6. आलोचना के प्रगतिशील आयाम - डा. शिवकुमार मिश्र
पंचशील प्रकाशन
जयपुर, प्र. सं. 1987.

7. आज की हिन्दी कहानी - धनंजय वर्मा

8. कहानी आन्दोलन की भूमिका - डा. बलराज पाण्डे
अनामिका प्रकाशन
इलाहाबाद
प्र. सं. 1989.

9. कहानी नयी कहानी - डॉ. नामवर सिंह
लोक भारती प्रकाशन
इलाहाबाद
प्र. सं. 1966.

10. कहानी संवाद का तीसरा आयाम - बटरोही
नाशनल पब्लिशिंग हाउस
नई दिल्ली
प्र. सं. 1983.

11. कहानी की संवेदनशीलता : सिद्धांत और प्रयोग - डा. भगवानदास वर्मा
ग्रन्थम
रामबाग, कानपुर -12.
प्र. सं. 1972.

12. काठ का सपना - गजानन माधव मुक्तिबोध
भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन
वाराणसी - 5
प्र. सं. 1967.

13. छठे दशक की हिन्दी कहानी में जीवन मूल्य - डा. अरुणा गुप्ता
इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन
दिल्ली - 51.
प्र. सं. 1984.

14. तपस्या तथा अन्य कहानियाँ - हिमांशु जोशी
परमेश्वरी प्रकाशन
दिल्ली-92
प्र.सं. 1991.

15. द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास - डा.लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

16. नयी कहानीकारों की आलोचना-दृष्टि - डा.उषा चौहान
हिमाचल पुस्तक भंडार
दिल्ली -31
प्र.सं. 1990.

17. नयी कहानी की भूमिका - कमलेश्वर
शब्दकार
दिल्ली-6
प्र.सं. 1978.

18. नयी समीक्षा - अमृतराय
हँस प्रकाशन
इलाहाबाद
प्र.सं. 1977.

19. पहला पाठ (कहानी-संग्रह) - मधुकर सिंह
वाणी प्रकाशन
नई दिल्ली - 7
प्र.सं. 1979.

20. परंपरा और मूल्यांकन - डा.रामविलास शर्मा
राजकमल प्रकाशन
नई दिल्ली,प्र.सं. 1981.

21. प्रगति और परंपरा - डा. रामविलास शर्मा
मेहरचन्द मुंशी राम
दिल्ली, द्वि.सं. 1985.

22. प्रगतिवादी समीक्षा - डा. रामप्रसाद त्रिवेदी
रामबाग, कानपुर
1967.

23. प्रगतिगतिशील साहित्य की समस्यायें - रामविलास शर्मा
विनोद पुस्तक मंदिर
आग्रा
प्र.सं. 1954.

24. प्रथम पुरुष (कहानी संकलन) - सतीश जमाली
साहित्य वाणी
इलाहाबाद
प्र.सं. 1972.

25. बाबूजी (कहानी संग्रह) - मिथिलेश्वर
नाशनल पब्लिशिंग हाउस
नई दिल्ली - 2.
प्र.सं. 1988.

26. मार्क्सवादी चिंतन : इतिहास तथा सिद्धांत - डा. शिवकुमार मिश्र
मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी
भोपाल
प्र.सं. 1973.

27. मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य - रामविलास शर्मा
वाणी प्रकाशन
नई दिल्ली
प्र.सं. 1984.

28. मार्क्सवाद और साहित्य - महेन्द्र राय
आराधना
वाराणसी
प्र. सं. 1957.

29. मार्क्सवादी सौंदर्य शास्त्र : समग्र चिंतन - मैनेजर पाण्डे
कमला प्रसर्त
ज्ञानरंजन - पहला प्रकाशन
इलाहाबाद
प्र. सं. 1977.

30. मार्क्सवाद और हिन्दी उपन्यास - टी. एन. रवीन्द्रनाथ
वाणी प्रकाशन
कमला नगर
दिल्ली-7
प्र. सं. 1979.

31. माटी की महक (कहानी संकलन) - मिथिलेश्वर
नेशनल पब्लिशिंग हाउस
नयी दिल्ली - 2
प्रथम सं. 1986.

32. मिथिलेश्वर की प्रतिनिधि कहानियाँ - मिथिलेश्वर
राजकमल पेपर वर्क्स
प्र. सं. 1989.

33. समकालीन हिन्दी कहानियाँ - हृषिकेश और राकेश रेणु - संपादक
परिभाषा प्रकाशन
सीतामढ़ी - 1
बिहार
प्र. सं. 1992.

34. समकालीन कहानी:सोच और समझ-डा.पुष्पपाल सिंह
आत्माराम एण्ड सन्स
काश्मीरी गेट
दिल्ली - 6.
प्र.सं. 1986.

35. समकालीन मार्क्सवाद - विश्वंभरनाथ उपाध्याय
पंचशील प्रकाशन
जयपुर - 3.
प्र.सं. 1987.

36. समकालीन कहानी के विविध संदर्भ - डा.कीर्ति केसर
नचिकेता प्रकाशन
दिल्ली - 9
प्र.सं. 1987.

37. समकालीन हिन्दी सृजनशीलता - सतीश जमाली - संपादक
नयी कहानी प्रकाशन
इलाहाबाद - 6.
प्र.सं. 1983.

38. समकालीन हिन्दी आलोचना - संपादक सतीश जमाली
नयी कहानी प्रकाशन
साहेबतिया बाग
इलाहाबाद - 6.
प्र.सं. 1979.

39. समकालीन आलोचना के प्रतिमान- रामव्यास पाण्डे
श्रीनिवास शर्मा
रवीन्द्र सरणी
कलकत्ता - 5.
प्र.सं. 1974.

40. समकालीन हिन्दी कहानी और समाजवादी चेतना - किरण बाला
अनुभव प्रकाशन
श्रीनगर
कानपुर - 1.
प्र. सं. 1988.

41. समकालीन हिन्दी कहानी परिदृश्य - रघुवर दयाल
पंचशील प्रकाशन
जयपुर
प्र. सं. 1988.

42. समकालीन कहानी दिशा और दृष्टि - संपादक डा. धनंजय
अभिव्यक्ति प्रकाशन
इलाहाबाद - 2.
प्र. सं. 1970.

43. समकालीन हिन्दी कहानी प्रकृति और परिदृश्य - यदुनाथ सिंह
चित्रलेखा प्रकाशन
इलाहाबाद
द्वितीय सं. 1981.

44. साठोत्तरी हिन्दी कहानी और राजनीतिक चेतना - डा. जितेन्द्र वत्स
साहित्य रत्नाकर
कानपुर - 12.
प्र. सं. 1989.

45. साठोत्तरी हिन्दी कहानी मूल्यांकन की तलाश - डा. वासुदेव शर्मा
शारदा प्रकाशन
नई दिल्ली
प्र. सं. 1986.

46. साहित्य की परख - शिवदान सिंह चौहान
इण्डिया पब्लिशिंग
नई दिल्ली.

47. साहित्य की समस्यायें - शिवदान सिंह चौहान
आत्माराम एण्ड सन्स
दिल्ली, प्र.सं. 1959.

48. स्वदेश दीपक की प्रतिनिधि कहानियाँ - स्वदेश दीपक
राजकमल पेपर बैक्स
नई दिल्ली - 2.
द्र.सं. 1988.

49. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी के सामाजिक परिवर्तन - डा. भैरूलाल गर्ग
चित्रलेखा प्रकाशन
इलाहाबाद - 6.
प्र.सं. 1979.

50. स्विमिंग पूल {कहानी संग्रह} - असगर वज़ाहत
राजकमल प्रकाशन
नई दिल्ली - 2.
प्र.सं. 1990.

51. संवादहीन {कहानी संग्रह} - शेखर जोशी
चित्रलेखा प्रकाशन
इलाहाबाद - 6.
प्र.सं. 1987.

52. राहुल सांकृत्यायन का कथा साहित्य - डा.प्रभाशंकर मिश्र
अशोक प्रकाशन
दिल्ली - 6.
प्र.सं. 1967.

53. हरिजन सेवक (कहानी संकलन) - मधुकर सिंह
चित्रलेखा प्रकाशन
इलाहाबाद - 6.
प्र. सं. 1984.

54. हिन्दी कहानी एक अंतरंग पहचान - डा. रामदरश मिश्र
नैशनल पब्लिशिंग हाउस
नयी दिल्ली - 2.

55. हिन्दी कहानी दो दशक की यात्रा - संपादक रामदरश मिश्र
नरेन्द्र मोहन

56. हिन्दी आलोचना का विकास - नन्द किशोर नवल
राजकमल प्रकाशन
नई दिल्ली.
प्र. सं. 1981.

57. हिन्दी कहानी आठवाँ दशक - मधुर उप्रेती
इन्दु प्रकाशन
प्र. सं. 1984.

58. हिन्दी कहानी एक अंतरंग पहचान - उपेन्द्रनाथ अश्क
नीलाभ प्रकाशन
खुसरोबाग रोड
इलाहाबाद - 1.
प्र. सं. 1967.

59. हिन्दी कहानी का इतिहास - डॉ. लालचन्द्र गुप्त
संजीव प्रकाशन
कुरुक्षेत्र
प्र. सं. 1988.

अंग्रेज़ी पुस्तक

1. A contribution to the critique of political economy - Karl Marx
   Moscow, 1970
   MECW XII.

2. Art and Social life - G.V.Plekhnov
   P.P.H.Bombay
   1953.

3. Against Imperialist War - V.I.Lenin
   Progressive publishers
   Moscow, 1966.

4. Dilectical Meterialism- An introductory course - Maurice Conforth
   Nation Book Agency
   Seventh Edition, 1984.

5. Karl Marx - V.I.Lenin
   Foreign Language Press
   Peaking, 1976.

6. Literature and Art - Karl Marx & F.Engles
   Current Book House
   Bombay - 1, 1956.

7. Manifesto of the Communist- Party Karl Marx and F.Engles
   Progress Publishers
   Moscow, 1977.

8. Marx-Engels Marxism - V.I.Lenin
Progress publishers
Moscow.

9. Moscow and the New Left - Klous, Mehnert
Translated by Helmut Fisher
and Luther Wilson, Deutsche
An Stutt gart Germany
University of Calipornia
London 1975.

10. On Literature - Maxim Gorkey
Progress Publishers
Moscow, 1976.

11. On Literature and Art - Marx-Engels
Progress publishers
Moscow, 1976.

G5616

12. On Literature and Art - V.I.Lenin
Progress Publishers
Moscow
IV Edition, 1972.

13. Letter to Heinz - Karl Marx and F.Engels
Starken burg.

14. Selected Works - Karl Marx and F.Engels
Progress Publishers
Moscow
Vol.I,(IVth Edition)
1977.

15. Studies in a Dying Culture - John Lahe
The Bodely Head
London, 1951-58.

16. The Novel and the People - F.L.P.H.
Moscow, 1954.

पत्र-पत्रिकाएँ

आलोचना - अक्तूबर 1967.
आलोचना - जुलाई 1964.
प्रकर - मई-जून 1973.
कल्पना - जनवरी 1955.
साप्ताहिक हिन्दुस्तान - अक्तूबर 1971.
युगचेतना - अप्रैल 1958.
संचेतना - दिसंबर 1979.
प्रेमचन्द विशेषांक - जुलाई 1980.
आलोचना - अप्रैल-जून 1970.
आलोचना - अक्तूबर 1954.
साप्ताहिक हिन्दुस्तान - दिसंबर 1966.
युगस्पंदन - अक्तूबर-दिसंबर 1989.